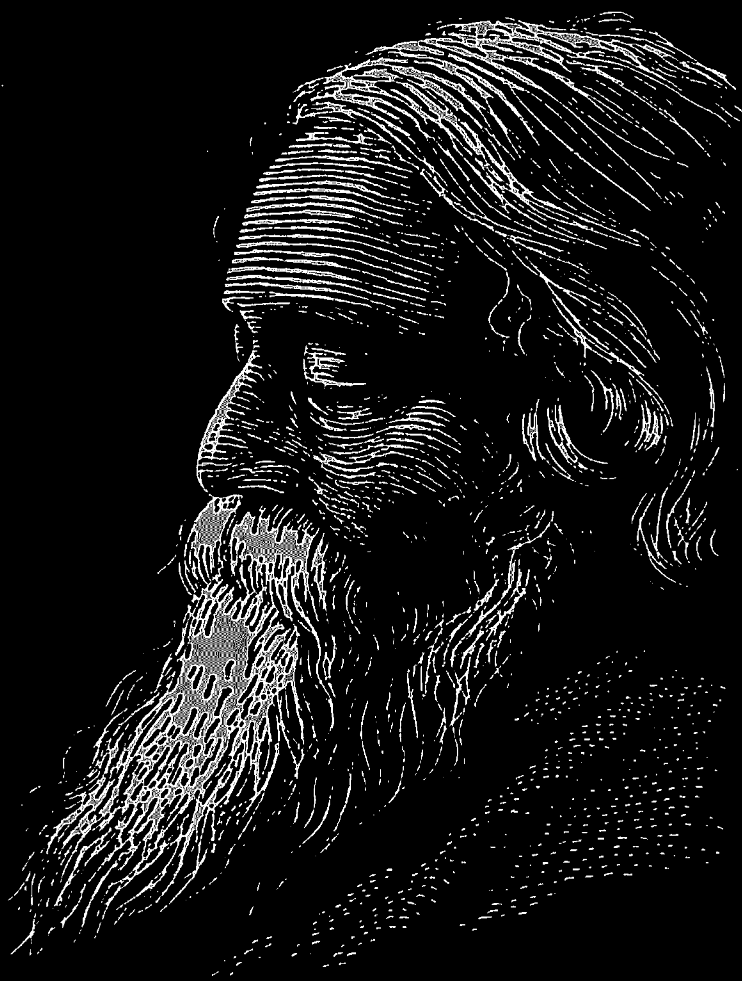
रवीन्द्र-साहित्य



अनुवादक : धन्यकुमार जैन

रवीन्द्र-साहित्य : भाग २५

धर्म

धर्मका सरल आदर्श : प्राचीन भारतका 'एकः' : मनुष्यत्व : दुःख
उत्सव : दिन और रात्रि : प्रार्थना : धर्म-प्रचार : उत्सवका दिन
शातं शिवमद्वैतम् : आनन्द-रूप : स्वतन्त्रताका परिणाम
ततः किम् : वर्ष-शेष : नव-वर्ष

अनुवादकर्ता

धन्यकुमार जैन

रवीन्द्र - साहित्य - मन्दिर
पी-१५, कलाकार स्ट्रीट
कलकत्ता - ७

रवीन्द्र-साहित्यका
प्रत्येक भाग
एक पृथक
पुस्तक है

रवीन्द्र-साहित्यकी
समस्त रचनाएँ
मूल बंगलासे
अनूदित हैं

~~मूल्य २।) सवा-दो रुपये~~
मजबूत गत्तेकी जिल्द
मूल्य प्रति-भाग २॥)

प्रकाशक
धन्यकुमार जैन और दौहित्र
पी-१५, कलाकार स्ट्रीट
कलकत्ता-७

मुद्रक
सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स
४०२, अपर चितपुर रोड
कलकत्ता-७

धर्मका सरल आदर्श

अपने घरके एक कोनेके लिए यदि हमें एक प्रदीप जलाना हो, तो उसके लिए हमें कितना आयोजन करना पड़ता है, उसके लिए कितने लोगोंपर निर्भर करना पड़ता है ! कहाँ सरसों बोई जाती है, कहाँ तेल निकाला जाता है, कहाँ उसका क्रय-विक्रय होता है, उसके बाद दीप सँजोनेके लिए कितना उद्योग करना पड़ता है,—और तब, इतनी जटिलताके बाद, जो प्रकाश मिलता है वह कितना अल्प होता है ! उससे घरका काम तो चल जाता है, किन्तु बाहरका अन्धकार दूना घनीभूत हो उठता है ।

विश्व-प्रकाशक प्रभातका प्रकाश ग्रहण करनेके लिए हमें किसीपर निर्भर नहीं करना पड़ता, उसकी हमें रचना नहीं करनी पड़ती, केवल जागरण मात्र करना पड़ता है । आँखें खोलकर घरका द्वार खोलते ही उस आलोकको फिर कोई रोक नहीं रख सकता ।

यदि कोई कहे कि 'प्रभातके प्रकाशको देखनेके लिए कोई अत्यन्त निगूढ़ कौशल कहीं छिपा हुआ है', तो उसी क्षण मनमें यह बात उठती है कि निश्चय ही वह प्रभातका प्रकाश नहीं हो सकता, कोई कृत्रिम प्रकाश होगा, संसारका कोई विशेष-व्यवहार-योग्य क्षुद्र प्रकाश । कारण, वृहत् प्रकाश हमारे ऊपर स्वतः ही वर्षित होता रहता है, क्षुद्र प्रकाशके लिए ही नाना कल-कारखानोंकी आवश्यकता होती है ।

जैसा यह प्रभातका प्रकाश है, ठीक वैसा ही धर्म है । वह भी अजस्र है, विपुल है, और ऐसा ही सरल है । वह ईश्वरका अपनेको दान करना है, वह नित्य है, वह भूमा है, वह हम सबको वेष्टन करके हमारे अन्तर-बाहरको ओतप्रोत करके स्तब्ध हो रहा है । उसे पानेके लिए केवल चाहनेकी जरूरत है, केवल हृदयको उन्मीलित करनेकी जरूरत है । आकाशव्यापी दिवालोकको यदि उद्योग करके प्राप्त करना होता, तो उसका पाना जैसे हमारे लिए असम्भव होता, ठीक वैसे ही यदि हमें अपने 'अनन्त जीवनके एकमात्र पाथेय धर्म' को विशेष आयोजन द्वारा प्राप्त करना पड़ता, तो वह हमें कभी किसी कालमें भी नहीं मिल पाता ।

हम स्वयं जो-कुछ रचना करना चाहते हैं वह जटिल हो जाता है। हमारा समाज जटिल है, हमारा घर-संसार जटिल है और हमारी जीवनयात्रा जटिल है। यह जटिलता अपने बहुधा-विभक्त वैचित्र्यके द्वारा, विपुलता और प्रबलताके बहाने, प्रायः हमारे मूढ़ चित्तको अभिभूत कर दिया करती है। जिस दार्शनिक ग्रन्थका लेख अत्यन्त जटिल होता है, हमारी अज्ञ बुद्धि उसीमें विशेष पाण्डित्य समझकर विस्मय अनुभव किया करती है। जिस सभ्यताकी गति-पद्धति दुरूह और विमिश्रित होती है, अथवा जिस कल-कारखानेके आयोजन और उपकरण बहुविस्तृत होते हैं वह हमारे अन्तःकरणको विह्वल कर देता है। किन्तु जो दार्शनिक दर्शनको सहज रूपमें देख सकते हैं वे ही यथार्थ क्षमताशाली धीशक्तिमान हैं, जो सभ्यता अपनी समस्त व्यवस्थाको सरलतासे सुश्रृङ्खल और सर्वत्र-सुगम कर सकती है वही सभ्यता यथार्थमें उन्नततर है। बाहरसे देखनेमें चाहे जैसी हो, वास्तवमें जटिलता ही दुर्बलता है, वह अकृतार्थता है। असलमें परिपूर्णता ही सरलता है। धर्म उस परिपूर्णताका, सुतरां सरलताका, एकमात्र चरमतम आदर्श है।

किन्तु, ऐसा ही हमारा दुर्भाग्य है कि उस धर्मको ही मनुष्यने संसारमें सर्वाधिक जटिलतासे आकीर्ण कर रखा है। धर्म आज असंख्य तन्त्र-मन्त्रोंसे, कृत्रिम क्रियाकर्मोंसे, जटिल मतवादोंसे, विचित्र कल्पनाओंसे ऐसा दुर्गम गहन हो उठा है कि मनुष्यकी उस स्वकृत अन्धकारमय जटिलतामें आये-दिन एक-एक अध्यवसायी एक-एक नया मार्ग बनाकर नये-नये सम्प्रदायोंकी सृष्टि करता चला जा रहा है। उन भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय और मतवादोंके संघर्षसे जगतमें विरोध-विद्वेष और अशान्ति-अमंगलका अन्त ही नहीं होना चाहता।

ऐसा क्यों हुआ? इसका एकमात्र कारण यह है कि हमने सर्वान्तःकरणसे अपनेको धर्मके अनुगत न बनाकर धर्मको ही अपने अनुरूप बनानेकी चेष्टा की। धर्मको हम संसारकी अन्यान्य आवश्यक-वस्तुकी तरह अपने तईं विशेष व्यवहार-योग्य बना लेनेके लिए अपने मापके अनुकूल विशेष-रूपसे खर्व करते रहे, खण्डित करते रहे, इसलिए ऐसा हुआ।

इसमें सन्देह नहीं कि धर्म हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक आवश्यक है, किन्तु इसी कारण उसे यदि अपने लिए उपयोगी बनानेकी चेष्टा की जाय तो उसकी वह सर्वश्रेष्ठता और परम आवश्यकता ही नष्ट हो जाती है। धर्म देश-काल-पात्रके क्षुद्र प्रभेदोंके अतीत है, वह निरंजन विकारविहीन होनेसे ही हमारे चिरकालके लिए, हमारी समस्त अवस्थाओंके लिए, इतना एकान्त-रूपसे आवश्यक है। धर्म हमारे लिए नित्यकालके समस्त परिवर्तनोंमें ध्रुव अवलम्बन दान करता है।

किन्तु धर्मकी धारणा करनी होगी तो! और धारणा करनेके लिए यह आवश्यक है कि हम उसे अपनी प्रकृतिके अनुरूप कर लें। किन्तु मानव-प्रकृति विचित्र है, और उस वैचित्र्यके अनुसार जो 'एक' है वह 'अनेक' हो उठता है। जहाँ अनेक है वहाँ जटिलता अनिवार्य है; और जहाँ जटिलता है वहाँ विरोध अपने-आप आ जाता है।

किन्तु बात यह है कि धर्मकी धारणा नहीं करनी होती। धर्मराज ईश्वर धारणाके अतीत हैं। हम जिसकी धारणा करते हैं वह और-कुछ है; वह धर्म नहीं है, वह संसार है। इसीलिए उसमें संसारके समस्त लक्षण प्रस्फुटित हो उठते हैं। संसारका लक्षण है वैचित्र्य, संसारका लक्षण है विरोध।

जिसकी हम धारणा कर सकते हैं उससे हमारी तृप्तिका अवसान हो जाता है, जिसकी हम धारणा करते हैं उसमें प्रतिक्षण विकार आता रहता है। सुखकी आशासे ही हम सब-कुछकी धारणा किया चाहते हैं; किन्तु, जिसकी धारणा करते हैं उससे हमारे सुखका अवसान हो जाता है। इसीलिए उपनिषदमें कहा गया है :—

'यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति।'

जो भूमा है वही सुख है, जो अल्प है उसमें सुख नहीं। उस 'भूमा'को यदि हम धारणा-योग्य बना लेनेके लिए 'अल्प' कर लेते हैं, तो उससे दुःखकी ही सृष्टि होगी। फिर दुःखसे रक्षा कैसे होगी? इसलिए, संसारमें रहकर हमें भूमाकी उपलब्धि करनी होगी, सांसारिक प्रयोजनके लिए उस भूमाको खण्डित और जड़ित करनेसे काम नहीं चलेगा।

एक उदाहरण दिया जाता है। घर हमारे लिए प्रयोजनीय है, वह हमारे रहने-योग्य स्थान है। और मुक्त आकाश हमारे लिए वैसा वास-योग्य नहीं है, किन्तु उस मुक्त आकाशका मुक्त बना रहना हमारे लिए एकान्तरूपसे आवश्यक है। मुक्त आकाशके साथ हमारे घरके आकाशका अबाध योग रहनेसे ही हमारा घर हमारे लिए कारागार नहीं होगा।

किन्तु यदि हम कहें कि आकाशको हम अपने घरके समान ही अपना बना लेंगे; और यदि हम आकाशमें बराबर प्राचीर ही खड़ी करते चले जायें, तो उससे हमारे घरका ही विस्तार होता रहेगा, मुक्त आकाश दूरसे सुदूर चला जायगा। और यदि हम विशाल छत बनाकर सम्पूर्ण आकाशको ही अपना बना लेनेकी कल्पना करें, तो आलोकको जन्मभूमि भूर्भुवःस्वर्लोकके अनन्त क्रीड़ाक्षेत्र आकाशसे अपनेको वंचित कर लेंगे। जो अत्यन्त सहजमें प्राप्त होता है वह सहजके सिवा और-किसी उपायसे नहीं प्राप्त हो सकता। अपनी अत्यधिक चेष्टासे हम उसे अत्यन्त दुर्लभ ही कर डालेंगे। वेष्टनी बनाकर हम संसारके और-सब 'पाने'को पा सकते हैं, किन्तु धर्मको, धर्मके अधीश्वरको वेष्टनी तोड़कर ही पा सकते हैं। सांसारिक लाभकी पद्धतिसे हम संसारके अतीतको नहीं पा सकते। वस्तुतः जहाँ हम 'न पानेके आनन्द'के अधिकारी हैं वहाँ पानेकी व्यर्थ चेष्टा करके हम केवल खोते ही हैं। इसीलिए ऋषि कहते हैं—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन॥'

मनके साथ वाक्य जिसे न पाकर निवृत्त होता है, ब्रह्मके आनन्दको जिन्होंने जान लिया है, वे किसीसे भी भय नहीं पाते।

धर्मका सरल आदर्श किसी दिन हमारे भारतवर्षका ही था। उपनिषदमें उसका परिचय मिलता है। उसमें जो ब्रह्मका प्रकाश है वह परिपूर्ण है, वह हमारे कल्पना-जालसे विजड़ित नहीं है। उपनिषदने कहा है—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।'

ब्रह्म ही सत्य है, अन्यथा इस जगत-संसारका कुछ भी सत्य नहीं होता। ब्रह्म ही ज्ञान हैं, जो कुछ भी विद्यमान है वह उन्हींका ज्ञान है। वे जो जान

रहे हैं वही विद्यमान है, और वही सत्य है। वे अनन्त हैं; वे अनन्त सत्य हैं, वे अनन्त ज्ञान हैं।

इस विचित्र जगत-संसारको उपनिषदने ब्रह्मके ही अनन्त सत्यमें, ब्रह्मके ही अनन्त ज्ञानमें विलीन करके देखा है। उपनिषदने किसी विशेष लोककी कल्पना नहीं की, किसी विशेष मन्दिरकी रचना नहीं की, किसी विशेष स्थानमें उनकी विशेष मूर्तिकी स्थापना नहीं की, एकमात्र ब्रह्मकी ही परिपूर्ण-रूपसे सर्वत्र उपलब्धि करके सर्वप्रकारकी जटिलता और कल्पनाओंके चाञ्चल्यको दूर हटा दिया है। धर्मकी विशुद्ध सरलताका विराट ऐसा आदर्श और कहाँ है?

बिना विचारे इस बातको उच्चारित करके कि 'उपनिषदका ब्रह्म हमारे अगोचर है', ऋषियोंकी अमर वाणियोंको हम अपने व्यवहारके बाहर निर्वासित न कर रखें। आकाश लोष्ट्रखण्डके सामान हमारे ग्रहण-योग्य नहीं, इसलिए हम आकाशको दुर्गम नहीं कह सकते। वस्तुतः इसी कारण वह सुगम है। जो धारणा-योग्य है, जो स्पर्श-योग्य है, वही हमारे लिए बाधक है; वही हमलोगोंको बाधा पहुँचाता है। हमारे अपने हाथकी बनी क्षुद्र प्राचीर दुर्गम है, किन्तु अनन्त आकाश दुर्गम नहीं है। प्राचीरको लङ्घन करना पड़ता है, किन्तु आकाशको लङ्घन करनेके कोई अर्थ ही नहीं होते। प्रभातका अरुणालोक स्वर्ण-मुष्टिके समान सञ्चय-योग्य नहीं होता, इसी कारण क्या अरुणालोकको दुर्लभ कहना होगा? वस्तुतः एक मुट्ठी स्वर्ण ही क्या दुर्लभ नहीं है? और आकाशपूर्ण प्रभात-किरणें क्या किसीको क्रय करके लानी पड़ती हैं? प्रभातके आलोकको मूल्य देकर क्रय करनेकी कल्पना ही मनमें नहीं सकती; वह दुर्मूल्य नहीं, किन्तु अमूल्य है।

उपनिषदके ब्रह्म ऐसे ही हैं। वे भीतर-बाहर सर्वत्र हैं। वे अन्तरतम हैं, वे सुदूरतम हैं। उनके सत्यसे ही हम सत्य हैं, और उनके आनन्दसे ही हम व्यक्त हैं!

'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्
यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।'

कौन तो शरीरकी चेष्टा करता और कौन जीवित रहता, यदि आकाशमें यह आनन्द नहीं रहता ! महाकाशको पूर्ण किये-हुए निरन्तर वह आनन्द विराज रहा है, तभी तो हम प्रतिक्षण निश्वास ले रहे हैं, प्रतिक्षण प्राण धारण किये-हुए हैं।

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ।'

इस आनन्दके कणमात्र आनन्दका अन्यान्य समस्त जीव उपभोग कर रहे हैं।

'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते,
आनन्देन जातानि जीवन्ति,
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।'

उस सर्वव्यापी आनन्दसे ही ये समस्त प्राणी जन्म रहे हैं, उस सर्वव्यापी आनन्दके द्वारा ही ये समस्त प्राणी जीवित हैं, उस सर्वव्यापी आनन्दमें ही ये गमन करते हैं, प्रवेश करते हैं।

ईश्वरके सम्बन्धमें जितनी भी बातें हैं उन सबमें यह बात ही सर्वापेक्षा सरल है, सर्वापेक्षा सहज है। ब्रह्मके इस भावको ग्रहण करनेके लिए कुछ भी कल्पना नहीं करनी पड़ती, कुछ रचना नहीं करनी पड़ती, कहीं दूर नहीं जाना पड़ता, दिन-मूहूर्तकी अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। केवल हृदयमें आग्रह उपस्थित होते ही, उसकी उपलब्धि करनेकी यथार्थ इच्छा होते ही, निश्वासमें स्वतः उसका आनन्द प्रवाहित होने लगता है, प्राण-मनमें स्वतः उसका आनन्द कम्पित होने लगता है, बुद्धिमें स्वतः उसका आनन्द वीकीर्ण होने लगता है, भोगमें स्वतः उसका आनन्द प्रतिविम्बित होते देखा जाता है। जैसे दिनके आलोकको देखनेके लिए नेत्र उद्‌घाटित करने मात्रकी आवश्यकता है, ठीक वैसे ही ब्रह्मका आनन्द पानेके लिए मात्र हृदय उन्मीलित करनेकी आवश्यकता है।

किसी समय मैं एक नावमें अकेला रहा रहा था। एक दिन सन्ध्याके समय मोमबत्तीके उजालेमें पढ़ते-पढ़ते बहुत रात हो गई। श्रान्त होकर ज्यों ही मैं मोमबत्ती बुझाकर सोनेको हुआ कि उसी क्षण पूर्णिमाके चन्द्रालोकने चारों ओरसे मुक्त वातायनसे प्रवेश करके मेरे उस कक्षको परिपूर्ण कर दिया। मेरे

अपने हाथकी जलाई-हुई उस एकमात्र क्षुद्र मोमबत्तीने उस आकाशव्यापी अनन्त आलोकको मुझसे अगोचर कर रखा था। उस अपरिमेय ज्योतिःसम्पद्को प्राप्त करनेके लिए मुझे और कुछ भी नहीं करना पड़ा, केवल उस बत्तीको एक फूँकसे बुझा देना पड़ा। उसके बाद मुझे क्या मिला? मोमबत्तीकी तरह कोई हिलाने-डुलानेकी चीज नहीं मिली, सन्दूकमें भरनेकी चीज नहीं मिली; मिला था आलोक, आनन्द, सौन्दर्य और शान्ति। जिसे हटा दिया था उससे बहुत अधिक प्राप्त किया था, किन्तु दोनोंके पानेकी पद्धति बिलकुल भिन्न थी।

ब्रह्मको पानेके लिए सोना पानेकी-सी चेष्टा न करके आलोक पानेकी-सी चेष्टा करनी चाहिए। सोना पानेकी-सी चेष्टा करनेसे नाना विरोध-विद्वेष-बाधा-विपत्तिका प्रादुर्भाव होता है, और आलोक पानेकी-सी चेष्टा करनेसे सब-कुछ सहज सरल हो जाता है। हम जानें चाहे न जानें, ब्रह्मके साथ हमारा जो नित्य-सम्बन्ध है उस 'सम्बन्ध'में अपने चित्तको उद्बोधित कर देना ही ब्रह्म-प्राप्तिकी साधना है।

भारतवर्षमें इस उद्बोधनका जो मन्त्र है वह भी अत्यन्त सरल है। वह एक निश्वासमें ही उच्चारित होता है, वह है गायत्री मन्त्र। ॐ भूर्भुवः स्वः, गायत्रीके इस अंशका नाम है 'व्याहृति'। 'व्याहृति' शब्दका अर्थ है, चारों ओरसे आहरण कर लाना। पहले तो भूलोक-भुवर्लोक-स्वर्लोक अर्थात् समस्त विश्व-जगतको मनमें आहरण कर लाना होता है। मनमें विचार करना होता है कि 'मैं विश्वभुवनका अधिवासी हूं, मैं किसी विशेष प्रदेशका वासी नहीं हूं; मुझे जिस राज-अट्टालिकामें वासस्थान मिला है, लोक-लोकान्तर उसका एक-एक कक्ष है।' इस प्रकार, जो यथार्थ आर्य हैं वे प्रतिदिन अन्ततः एक बार चन्द्र-सूर्य-ग्रह-ताराओंके बीच अपनेको दण्डायमान करते हैं, पृथिवीको अतिक्रम करके निखिल जगतके साथ अपने चिर-सम्बन्धकी एक बार उपलब्धि कर लेते हैं। स्वास्थ्यकामी जैसे बन्द घरको छोड़कर प्रातःकाल एक बार खुले मैदानकी हवा खा आते हैं उसी तरह आर्य साधु दिनमें एक बार निखिलमें, भूर्भुवः-स्वर्लोकमें अपने चित्तको घुमा लाते हैं। वे उस अगण्य-ज्योतिष्क-खचित विश्वलोकमें खड़े होकर कौनसा मन्त्र उच्चारण करते हैं—

'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।'

'विश्व-प्रसविता देवताकी वरणीय शक्तिका ध्यान करता हूं ।'

इस विश्वलोकमें उस विश्वलोकेश्वरकी जो शक्ति प्रत्यक्ष है उसीका ध्यान करता हूं । एक बार हम उपलब्धि करें कि विपुल विश्वजगत् एकसाथ इसी क्षण और प्रति क्षण ही उनमेंसे विकीर्ण हो रहा है । हम जिसे देखकर शेष नहीं कर सकते, जानकर पूरा नहीं कर सकते, उसे वे सर्वदा और समग्ररूपमें नित्य ही प्रेरण कर रहे हैं । इस विश्व-प्रकाशक असीम शक्तिके साथ मेरा, मेरी आत्माका, अव्यवहित सम्पर्क किस सूत्रसे है ? किस सूत्रका अवलम्बन करके हम उसका ध्यान करें ? —

'धियो यो नः प्रचोदयेत् ।'

जो हमारे लिए बुद्धिवृत्तियाँ प्रेरित कर रहे हैं, उन्हींके द्वारा प्रेरित उस धी-सूत्रसे ही उनका ध्यान करें । सूर्यके प्रकाशको हम किसके द्वारा प्रत्यक्षरूपसे जानते हैं ? सूर्य स्वयं हमें जो किरण दे रहा है उन किरणोंके ही द्वारा । इसी प्रकार विश्वजगतके सविता हमारे बीच प्रतिक्षण जो धी-शक्ति प्रेरण कर रहे हैं,— जिस शक्तिके रहनेके कारण ही हम अपनी और बाहरके समस्त प्रत्यक्ष व्यापारकी उपलब्धि कर रहे हैं,— वह धी-शक्ति उन्हींकी शक्ति है,— हम उस धी-शक्तिके द्वारा ही उनकी शक्तिको प्रत्यक्ष-रूपसे अपने अन्तरमें अन्तरतम-रूपमें अनुभव कर सकते हैं । बाहर जैसे भूर्भुवःस्वर्लोकके सवितृ-रूपमें उन्हें जगत्-चराचरके मध्य अनुभव करते हैं, अन्तरमें भी उसी प्रकार अपनी धीशक्तिके अविश्राम प्रेरयिताके रूपमें उनकी अव्यवहित - रूपसे उपलब्धि कर सकते हैं । बाहर 'जगत्' और मेरे अन्तरमें 'धी', ये दोनों ही एक ही शक्तिका विकाश हैं, यह जानकर जगतके साथ अपने चित्तका और चित्तके साथ उस सच्चिदानन्द का घनिष्ट योग अनुभव करके सङ्कीर्णतासे, स्वार्थसे, भयसे, विषादसे हम मुक्त होते हैं । इस प्रकार गायत्री-मन्त्र बाहरके साथ अन्तरका और अन्तरके साथ अन्तरतमका योग-साधन कराता है ।

ब्रह्मके ध्यान करनेकी यह जो प्राचीन वैदिक पद्धति है, यह जैसी उदार है वैसी ही सरल है । यह सर्व प्रकारकी कृत्रिमतासे रहित है । बाहरका

विश्वजगत् और अन्तरकी धी, इन दोनोंको कहीं ढूँढ़ते फिरना नहीं पड़ता। वास्तवमें इसके सिवा और हमारे कुछ है ही नहीं। 'इस जगतको और इस बुद्धिको अपनी अश्रान्त शक्तिके द्वारा वे ही निरन्तर प्रेरित कर रहे हैं', इस बातका स्मरण करनेसे ब्रह्मके साथ हमारा सम्बन्ध जैसी गभीरतासे, जैसी समग्रतासे और जैसे एकान्तरूपसे हृदयङ्गम होता है, ऐसा और किस कौशलसे, किस आयोजनसे, किस कृत्रिम उपायसे, किस कल्पना-नैपुण्यसे हो सकता है, सो मैं नहीं जानता। इसमें तर्क-वितर्कके लिए कोई स्थान नहीं, इसमें मतवाद नहीं, व्यक्ति-विशेषकी प्रकृति-सम्बन्धी कोई सङ्कीर्णता नहीं।

हमारा यह ब्रह्मका ध्यान जैसा सरल और साथ ही जैसा विराट है, हमारी उपनिषदकी प्रार्थना भी ठीक वैसी ही है।

विदेशियोंका, और उनके प्रिय छात्र स्वदेशियोंका कहना है कि 'प्राचीन हिन्दू-शास्त्रोंमें पापकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया, यही हिन्दू-धर्मकी असम्पूर्णता और निकृष्टताका परिचय है।' – किन्तु वास्तवमें यही हिन्दूधर्मकी श्रेष्ठताका प्रमाण है। हम पाप-पुण्यके बिलकुल मूलमें पहुंचे थे। अन्ततः आनन्दस्वरूपके साथ चित्तका सम्मिलन हो, इसीके प्रति हमारे शास्त्रोंकी सम्पूर्ण चेष्टा निबद्ध थी, – ब्रह्मकी उपलब्धि होते ही, बातकी बातमें, समस्त पाप दूर हो जाते हैं, समस्त पुण्यकी प्राप्ति हो जाती है। माताको यदि निरन्तर उपदेश दिया जाय कि 'तुम बच्चेके काममें असावधान न होना, तुम्हें यह करना होगा और यह नहीं करना होगा,' तो उपदेशका कभी अन्त ही न आयेगा। किन्तु यदि मात्र इतना कहा जाय कि तुम बच्चेको प्यार करना, तब फिर दूसरी बात ही नहीं करनी होगी, सब-कुछ सरल हो जायगा। मतलब यह कि उस प्यारके बिना माताका कार्य किसी हालतमें पूरा हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार यदि हम कहें कि अन्तरात्मामें ब्रह्मका प्रकाश हो, तब फिर पापके विषयमें कोई बात ही कहनेकी आवश्यकता नहीं। पापकी ओरसे यदि देखने लगें, तो जटिलताका कहीं अन्त ही न आवे। उसे छेदकर, जलाकर, निर्मूल करके कैसे विनष्ट किया जाय, इस चिन्ताका कहीं अन्त ही न आवे। उस दिशासे देखने लगें तो धर्मको

हम एक विराट विभीषिका कर डालेंगे। किन्तु आनन्दमयकी दिशासे देखें तो उसी क्षण पाप कुहेलिकाकी तरह बिला जायेंगे।

पाश्चात्य धर्मशास्त्रमें 'पाप' और 'पापसे मुक्ति' अत्यन्त जटिल और निदारुण है। मनुष्यकी बुद्धिने उसे उत्तरोत्तर और भी गहन कर डाला है ; और उस विचित्र पाप-तत्त्वके द्वारा ईश्वरको खण्डित करके, दुर्गम करके, धर्मको दुर्बल कर दिया है।

'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय।'

असत्से सत्यमें ले जाओ, अन्धकारसे ज्योतिमें ले जाओ, मृत्युसे अमृतमें ले जाओ।

हमारा अभाव केवल सत्यका अभाव है, आलोकका अभाव है, अमृतका अभाव है। हमारे जीवनका समस्त दुःख, पाप, निरानन्द केवल इसी अभावके कारण है। सत्यका, ज्योतिका, अमृतका ऐश्वर्य जिन्हें कुछ भी मिला है वे ही जानते हैं कि वह हमारे जीवनके समस्त अभावोंका बिलकुल मूलच्छेद कर देता है। जो व्याघात सत्यके प्रकाशको हमसे अगोचर रखते हैं, उसे आच्छन्न किये रहते हैं, वे ही तो विचित्र रूप धारण कर-करके हमें नाना दुःख और अकृतार्थतामें डाले रखते हैं। इसीलिए हमारा मन असत्य, अन्धकार और विनाशके आवरणसे रक्षा चाहता है। जब वह कहता है कि मेरा दुःख दूर करो, तब वह अन्त तक समझे बिना भी, यही एक ही बात कहता है। जब वह कहता है कि मेरा दैन्य मिटा दो, तब वह यथार्थमें क्या चाहता है सो न जाननेपर भी यही एक ही बात कहता है। वह न समझनेपर भी कहता है—

'आविरावीर्म एधि।'

हे स्वप्रकाश, मेरे समक्ष प्रकाशित होओ।

हम ध्यानके योगसे अपने अन्तर-बाह्यको ज्यों ही उस विश्वेश्वरके द्वारा ही विकीर्ण देखनेकी चेष्टा करेंगे, त्यों ही हम यह प्रार्थना करेंगे कि जिस सत्यमें, जिस ज्योतिमें, जिस अमृतमें हम नित्य ही वास कर रहे हैं, उसे सचेतन-भावसे जाननेमें जो-कुछ बाधाएँ हैं, अर्थात् असत्य, अन्धकार और मृत्यु, हमसे दूर हो जायें। जो नहीं है, वह हमें नहीं चाहिए ; हमारा जो है, उसीको हम पा

जायें,–यही हमारी प्रार्थनाका विषय है। जो दूर है उसे हम नहीं खोजेंगे, जो हमारी धी-शक्तिमें ही प्रकाशित है उसीकी हम उपलब्धि करेंगे,–यही हमारे ध्यानका लक्ष्य है। हमारा प्राचीन भारतवर्षका धर्म ऐसा सरल, ऐसा उदार और ऐसा अन्तरङ्ग है! उसमें स्व-रचित कल्पना-कुहकका स्पर्श तक नहीं है।

जीवन-यात्राके विषयमें भी भारतवर्षका उपदेश ऐसा ही सरल और मूलगामी है। भारतवर्ष कहता है—

'सन्तोषं हृदि संस्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।'

सुखार्थी सन्तोषको हृदयमें स्थापन करके संयत हों।

जो सुख चाहते हैं वे सन्तोष ग्रहण करें, जो सन्तोष चाहते हैं वे संयमका अभ्यास करें,–इस उपदेशका तात्पर्य यह है कि सुखका उपाय बाहर नहीं है, वह हमारे अन्तरमें ही है,–वह उपकरण-संचयकी विपुल जटिलतामें नहीं है, किन्तु संयत चित्तकी निर्मल सरलतामें विराजमान है। उपकरण-संचयका आदि-अन्त नहीं है, वासना-वह्निमें जितनी ही आहूतियाँ दी जायें वे भस्म हो जायेंगी और उसकी क्षुधित शिखाएँ क्रमशः विस्तृत ही होती जायेंगी, क्रमशः वे अपने अधिकारसे दूसरोंके अधिकारपर छा जायेंगी, उसकी लोलुपता क्रमशः विश्वके प्रति दारुण भाव धारण करती रहेंगी। बाहर सुखकी कल्पना करके मृगयाके मृगके सदृश निष्ठुर वेगसे सारे विश्वका पीछा करते फिरनेसे अन्तमें केवल दौड़-धूप ही हाथ आयेगी, और उसके परिणाम-स्वरूप शिकारीका उद्दाम अश्व उसे किस अपघातमें ले जाकर पटकेगा उसका कोई ठीक नहीं।

ऐसे उन्मत्त-भावसे जब हम दौड़ते रहते हैं तब हमारे ही आग्रहके असह्य वेगसे समस्त जुगत् हमें अस्पष्ट होकर दिखाई देता है; और हमारे चारों ओर पद-पदपर जो अयाचित आनन्द अत्यधिक प्राचुर्यके साथ प्रतिक्षण हमारी प्रतीक्षा कर रहा है उसे हम अनायास ही लङ्घन करके, दलन करके, विच्छिन्न करके पीछे पड़ा छोड़ जाते हैं। जगतके अक्षय आनन्दके भण्डारको हम केवल दौड़ते-हुए ही देखना चाहें तो नहीं देख सकते। इसीलिए भारतवर्ष कहता है—

'संयतो भवेत्।' प्रवृत्ति-वेगको संयत करो।

चञ्चलता दूर होते ही सन्तोषकी स्तब्धतामें जगतके समस्त वृहत् आनन्द अपने-आप प्रकाशित होंगे। गतिवेगकी प्रमत्तताके कारण ही हमें संसारके जो स्नेह-प्रेम-सौन्दर्य, प्रतिदिनके शत-शत मंगल-भावोंके आदान-प्रदान दिखाई नहीं देते, संयत होकर स्थिर होकर उनके प्रति दृष्टिपात करते ही उनके भीतरका सम्पूर्ण ऐश्वर्य अति सहजमें ही हमारे आगे उद्घाटित हो उठेगा।

भारतवर्ष ऐसा परामर्श कदापि नहीं देता कि जो नहीं है उसीके शिकारके लिए निकल पड़ो। 'दौड़-धूप ही चरम सार्थकता है'– भारतवर्षकी यह बात ही नहीं है। जो भीतर-बाहर सर्वत्र है, जो पर्याप्त है, प्रचुर है, जो ध्रुव है, जो सहज है, भारतवर्ष उसीको प्राप्त करनेका परामर्श देता है। कारण वही सत्य है, वही नित्य है। भारतवर्षका कहना है कि जो अन्तरमें हैं, जो आत्मामें हैं, उन्हें अन्तरमें ही, आत्मामें ही प्राप्त करो ; और जो विश्वमें हैं, उन्हें विश्वमें अनुभूति-उपलब्धि करके प्राप्त करो। यही भारतवर्षकी साधना है।

हम जिस अमृतलोकमें सहज ही वास कर रहे हैं, दृष्टिकी वाधाएँ दूर करके उसको प्रत्यक्ष करनेके लिए ही भारतवर्षकी प्रार्थना है। चित्त-सरोवरका जो निर्मल अचाञ्चल्य है, जिसका नाम सन्तोष है, आनन्दका जो दर्पण है, उसीकी समस्त क्षोभसे रक्षा करो,– यही भारतवर्षकी शिक्षा है। कुछ कल्पना करना नहीं, कुछ रचना करना नहीं, कुछ आहरण करना नहीं,– केवलमात्र जागरित होना, विकशित होना, प्रतिष्ठित होना, जो है उसे ग्रहण करनेके लिए अत्यन्त सरल होना। जो सत्य है, वह सत्य होनेसे ही हमारे निकटतम है ; सत्य होनेसे ही वह दिवालोकके समान हम सबके लिए प्राप्य है, वह हमारा अपना रचा-हुआ न होनेसे ही हमारे लिए सुगम है, वह हमारी सम्यक्-धारणाके अतीत होनेसे ही हमारे चिर-जीवनका आश्रय है। उसका प्रतिनिधि मात्र ही उससे सुदूर है। उसे अपने किसी प्रयोजन-विशेषके उपयोगी-रूपमें, विशेष आयत्ति-गम्यके रूपमें सहज करनेकी चेष्टा करनेसे ही उसे कठिन कर देना होता है। अधीर होकर उसे वाह्याडम्बरमें खोजते फिरना अपनी सृष्टिको ही ढूंढ़ते फिरना है। इस प्रकारसे हम अपनी चेष्टाकी तात्कालिक उत्तेजना मात्र प्राप्त करते हैं, किन्तु चरम सार्थकता नहीं पाते।

आज हम भारतवर्षके उस महान उपदेशको भूल गये हैं, उसके अकलङ्क सरलतम विराटतम एकनिष्ठ आदर्शसे भ्रष्ट होकर शतधा-विभक्त खर्वता-खण्डता के दुर्गम गहनमें माया-मृगीका अनुधावन करते फिर रहे हैं।

हे भारतवर्षके चिराराध्यतम अन्तर्यामी विधातृपुरुष, तुम हमारे भारतवर्षको सफल करो। भारतवर्षका सफलताका पथ एकान्त सरल एकनिष्ठताका पथ है। तुममें ही उसका धर्म है, कर्म है; उसके चित्तने परम ऐक्य प्राप्त करके जगतकी, समाजकी, जीवनकी समस्त जटिलताओंकी निर्मल सहज मीमांसा की थी। जो स्वार्थ-साधनका है, विरोधका है, जो संशयकी नाना शाखा-प्रशाखाओंमें हमें भटकाता है, जो उपकरणके नाना जंजालोंमें हमारी चेष्टाओंको नाना आकारोंमें दौड़ाता रहता है, वह भारतवर्षका पथ नहीं है। भारतवर्षका पथ एकका पथ है, वह तुम्हारा ही वाधा-वर्जित पथ है। अपने वृद्ध पितामहोंके पदाङ्क-चिह्नित उस प्राचीन प्रशस्त और पुरातन सरल राजपथको यदि हम परित्याग न करें, तो किसी भी अवस्थामें कदापि हम व्यर्थ नहीं होंगे।

जगत्में आज दारुण दुर्योगके दुर्दिन उपस्थित हैं। चारों ओर आज युद्ध-भेरी बज उठी है, बाणिज्य-रथ दुर्बलको धूलिके साथ दलता-हुआ घड़घड़ाहटके साथ चारों तरफ दौड़ रहा है। स्वार्थकी झंझावायु प्रबल गर्जनके साथ चारों तरफ चक्कर लगाती फिर रही है। — हे विधातः, इस पृथिवीके लोग आज तुम्हारे सिंहासनको सूना समझ बैठे हैं, धर्मको 'अभ्यास-जन्य संस्कार' मात्र समझकर निश्चिन्त चित्तसे यथेच्छाचार करनेमें प्रवृत्त हुए हैं। — हे शान्तं शिवमद्वैतम्, इस झंझावर्तसे हम कभी क्षुब्ध न हों, शुष्क मृत पत्रराशिकी भाँति इसके द्वारा आकृष्ट होकर धूलि-ध्वजा उठाकर हम दिशा-विदिशामें भटकते न फिरें, पृथिवी-व्यापी प्रलय-ताण्डवमें हम एकाग्र चित्तसे एकान्त निष्ठासे अपने इस विपुल विश्वासको दृढ़तासे धारण किये रहें—

'अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति।'

अधर्मके द्वारा आपाततः वृद्धिप्राप्त हुआ जा सकता है, आपाततः मङ्गल दिखाई दे सकता है, आपाततः शत्रु पराजित होते जान पड़ते हैं, किन्तु समूल विनाशको प्राप्त होना पड़ता है।

अन्तमें एक दिन नाना दुःख और आघातोंसे विशाल श्मशानमें इस दुर्योग की निवृत्ति होगी ही। तब यदि मानव-समाज यह बात कहे कि शक्तिकी पूजा, क्षमताकी मत्तता, स्वार्थकी दारुण दुश्चेष्टा जब प्रबलतम थी, मोहान्धकार जब घनीभूत था और दलबद्ध क्षुधित आत्मम्भरिता जब उत्तर-दक्षिण पूर्व-पश्चिममें गर्जन करती फिरती थी, तब भी, भारतवर्षने अपना धर्म नहीं खोया, अपना विश्वास नहीं त्यागा, एकमात्र नित्य सत्यके प्रति उसने अपनी निष्ठाको स्थिर रखा था, – सबके ऊर्ध्वमें वह अपनी निर्विकार एककी पताकाको प्राणपण दृढ़ मुष्टिसे थामे-हुए था, और समस्त आलोड़न-गर्जनके बीच खड़ा-हुआ 'मा भैः' मन्त्र उच्चारण करता-हुआ कह रहा था—

'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।'

एकके आनन्दको, ब्रह्मके आनन्दको जिन्होंने जान लिया है, संसारमें वे किसी-कुछसे ही भयभीत नहीं होते।

यही यदि सम्भवपर हुआ, तभी भारतवर्षमें ऋषियोंका जन्म, उपनिषदकी शिक्षा, गीताका उपदेश, और शताब्दियोंसे उसका नाना दुःख-अवमानना सहना,- सब-कुछ सार्थक होगा। यह धैर्यके द्वारा सार्थक होगा, धर्मके द्वारा सार्थक होगा, ब्रह्मके द्वारा सार्थक होगा,– दम्भके द्वारा नहीं, प्रतापके द्वारा नहीं, स्वार्थ-सिद्धिके द्वारा नहीं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

—

बङ्गला-रचना : वि० सं० १९५९
हिन्दी-अनुवाद : वैशाख २०११

प्राचीन भारतका 'एकः'

"वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।"

'वृक्षकी भाँति आकाशमें स्तब्ध-हुए विराज रहे हैं वही एक । उस पुरुषमें, उस परिपूर्णमें यह समस्त ही पूर्ण है ।'

"यथा सौम्य वयांसि वासोवृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते ।
एवं ह वै तत् सर्वं पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ।"

'हे सौम्य, पक्षीगण जैसे वास-वृक्षमें आकर स्थिर होते हैं, वैसे ही यह जो-कुछ है, समस्त ही परमात्मामें प्रतिष्ठित हुआ रहता है ।'

नदी जैसे नाना वक्र पथसे, सरल पथसे नाना शाखा-उपशाखाओंको वहन करती-हुई, नाना निर्भर-धाराओंसे परिपुष्ट होती-हुई, नाना वाधा-विपत्तियोंको भेद करती-हुई एक महासमुद्रकी ओर धावमान होती है, उसी प्रकार मनुष्यका चित्त, गम्य स्थान न जाननेपर भी, असीम विश्व-वैचित्र्यमें बराबर 'एक'से और 'एक'की ओर कहाँ चलता चला जा रहा था ? कुतूहली विज्ञान खण्ड-खण्ड पदार्थके द्वार-द्वारपर अणु-परमाणुओंमें किसका सन्धान कर रहा था ? स्नेह-प्रीति पद-पदपर विरह-विस्मृति-मृत्यु-विच्छेदके द्वारा पीड़ित होकर, अन्त-हीन तृष्णाके द्वारा ताड़ित होकर, पथ-पथमें किसकी प्रार्थना करती फिर रही थी ? भयातुरा भक्ति अपना पूजाका अर्घ्य माथेपर लिये अग्नि-सूर्य-वायु-वज्र-मेघोंमें कहाँ उद्भ्रान्त हुई भटक रही थी ?

इतनेमें उस अन्त-विहीन पथ-परम्परामें भ्राम्यमान दिग्भ्रान्त पथिकने सुना कि पथके प्रान्तमें छाया-निविड़ तपोवनमें यह वार्ता उद्गीत हो रही है—

"वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।"

'वृक्षकी भाँति आकाशमें स्तब्ध हुए विराज रहे हैं वही 'एक' । उस परिपूर्णमें यह सभी-कुछ पूर्ण है ।'

सारा पथ शेष हो गया; सारे पथका कष्ट दूर हो गया । तब अन्तहीन कार्य-कारणकी क्लान्तिकर शाखा-प्रशाखाओंमेंसे उत्तीर्ण होकर ज्ञान बोला—

"एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम् ।"

'विचित्र विश्वके चञ्चल बहुत्वमें इस अपरिमेय ध्रुवको एकधा ही देखना होगा।

सहस्र विभीषिका और विस्मयमें देवता-सन्धान-श्रान्त भक्ति तब बोल उठी— "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल
एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय।"

'यह 'एक' ही सबका ईश्वर है, समस्त जीवोंका अधिपति और समस्त जीवोंका पालनकर्ता है, यह 'एक' ही सेतु-स्वरूप होकर समस्त लोकको धारण करके ध्वंससे रक्षा कर रहा है।'

बाहरके बहुतर आघात और आकर्षणोंसे क्लिष्ट-विक्षिप्त प्रेमने कहा—
"तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात्
प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा।"

'वे जो एक हैं, वे सर्वाधिक अन्तरतर परमात्मा हैं; वे पुत्रसे प्रिय हैं, वित्तसे प्रिय हैं, अन्य सबसे प्रिय हैं।'

क्षणमें विश्वके बहुत्व-विरोधमें एककी ध्रुव-शान्ति परिपूर्ण होकर दिखाई दी; एकके सत्यने, एकके अभयने, एकके आनन्दने विच्छिन्न विश्व-जगतको एक करके अप्रमेय सौन्दर्यमें गूँथ दिया।

शिशिर-निषिक्त शीतके ऊषाकालमें पूर्व दिशा जब अरुण-वर्ण हो और लघुवाष्पाच्छन्न विशाल प्रान्तरमें जब आसन्न जागरणकी एक अखण्ड शान्ति विराज रही हो, जब ऐसा लगे कि मानो जीव-धात्री माता वसुन्धराने ब्राह्म-मुहूर्तमें प्रथम नेत्र उन्मीलित किये हैं और अभी तक उस विश्व-गेहिनीने अपने विशाल गृहका असंख्य-जीवोंके पालनका कार्य आरम्भ नहीं किया है, मानो वे दिवसारम्भमें ॐकार मन्त्र उच्चारण करके जगन्मन्दिरके उद्‌घाटित स्वर्णमय तोरण-द्वारपर ब्रह्माण्डपतिके समक्ष मस्तक नवाये स्तब्ध-हुई खड़ी हैं, तब यदि हम विचार कर देखें, तो ऐसी प्रतीति होगी कि उस निर्जन निःशब्द नीहार-मण्डित प्रान्तमें प्रयासोंका अन्त नहीं। प्रत्येक तृणदलके अणु-अणुमें जीवनकी विचित्र चेष्टाएँ निरन्तर चल रही हैं, प्रत्येक शिशिरके कण-कणमें संयोजन-वियोजन-आकर्षण-विकर्षणका कार्य विश्रामहीन है; और फिर भी, उस अश्रान्त

अपरिमेय कर्म-व्यापारमें शान्ति-सौन्दर्य अचल बना हुआ है। आज इस क्षण इस प्रकाण्ड पृथिवीको जो प्रचण्ड-शक्ति प्रबल वेगसे शून्यमें आकर्षित किये लिये जा रही है, वह शक्ति हमसे एक बात तक नहीं कह रही, एक शब्द तक नहीं कर रही। आज इस क्षणमें पृथिवीको परिवेष्टन कर समस्त महासमुद्रमें जो लाखों-करोड़ों तरंगें सगर्जन ताण्डव नृत्य कर रही हैं, सैकड़ों-हजारों नद-नदी-निर्झरका जो कल्लोल उठ रहा है, अरण्य-अरण्यमें जो आन्दोलन चल रहा है, पल्लव-पल्लवमें जो मर्मरध्वनि हो रही है, हम उसका क्या जानते हैं! विश्वव्यापी इस महाकर्मशालामें दिवारात्रि जो लक्ष-कोटि ज्योतिष्क-दीपोंका निर्वाण नहीं हो रहा है, उसके अनन्त कलरवने किसको वधिर किया है? उसका प्रचण्ड प्रयास-दृश्य किसको पीड़ित कर रहा है? इस कर्म-जालसे परिवेष्टित पृथिवीको जब देखते हैं, तब हम देखते हैं कि वह चिरकाल अक्लान्त है, अक्लिष्ट है, प्रशान्त है, सुन्दर है। इतने कार्योंमें, इतनी चेष्टाओंमें, इतनने जन्म-मरण-सुख-दुःखकी अविश्राम चक्र-रेखासे वह चिन्तित चिह्नित या भाराक्रान्त नहीं हुई। चिरकाल ही उसका प्रभात कैसा सौम्य-सुन्दर है, उसका मध्याह्न कैसा शान्त-गम्भीर है, उसका सायाह्न कैसा करुण-कोमल है और उसकी रात्रि कैसी उदार-उदासोन है! इतने वैचित्र्य और प्रयासोंमें ऐसी स्थिर शान्ति और ऐसा सौन्दर्य, इतने कलरवमें ऐसा परिपूर्ण संगीत कैसे सम्भवपर हुआ? इसका एक उत्तर यही है—

"वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः।"

'महाकाशमें वृक्षकी भाँति स्तब्ध-हुए विराज रहे हैं वही एक।' इसीलिए वैचित्र्य भी सुन्दर है और विश्वकर्ममें भी विश्वव्यापी शान्ति विराज रही है।

गभीर रात्रिमें अनावृत आकाशके नीचे चतुर्दिक् क्या निभृत मालूम होता है? और स्वयं अपनेको क्या हम एकाकी अनुभव करते हैं? और आश्चर्यकी बात यह है कि तब आलोककी यवनिका हट जानेसे सहसा हमें मालूम होता है कि अन्धकार-सभाके महाप्राङ्गणमें ज्योतिष्कलोकके अनन्त जनताके बीच हम दण्डायमान हैं। यह कैसा अपूर्व आश्चर्य है, अनन्त जगतकी कैसी निभृत निर्जनता है! कितने ज्योतिर्मय और ज्योतिर्हीन महाशून्यमण्डल हैं, कितने

अगण्य-योजन-व्यापी चक्र-पथोंमें घूर्ण-नृत्य हैं, कितने उद्दाम वाष्प-संघात हैं, कितने भीषण अग्नि-उच्छ्वास हैं! और उसके बीचमें हम सम्पूर्ण निभृतमें हैं, एकान्त निर्जनतामें हैं। शान्ति और विरामकी कोई सीमा नहीं। ऐसा कैसे सम्भव हुआ? इसका कारण है, 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः।'

नहीं तो यह जगत्, जो विचित्र है, जो अगण्य है, जिसका प्रत्येक कण और कणिका तक प्रकम्पित और घूर्णित है,– यह क्या भयङ्कर है? इसका वैचित्र्य यदि 'एक'-रहित है, इसकी अगण्यता यदि 'एक'-सूत्रमें ग्रथित नहीं है, इसकी उद्यत शक्तियाँ यदि स्तब्ध 'एक'के द्वारा धृत नहीं हैं, तो यह क्या कराल है? यह विश्व-संसार क्या अनिर्वचनीय विभीषिका है? तो फिर हम इस दुर्धर्ष जगत्-पुञ्जके भीतर किसके बलपर निश्चिन्त हुए अवस्थित हैं? यह महा-अपरिचित, जिसका प्रत्येक कण हमारे लिए दुर्भेद्य रहस्य बना-हुआ है, किसके विश्वासपर हम इसे चिरपरिचित मातृ-क्रोड़के समान अनुभव कर रहे हैं? यह जो आसन है, जिसपर अभी मैं बैठा-हुआ हूं, इसमें जो संयोजन-वियोजनकी शक्ति काम कर रही है, वह शक्ति इस आसनसे लेकर सूर्यलोक-नक्षत्रलोक पर्यन्त अविच्छिन्न-अखण्ड-रूपमें चली गई है, वह युग-युगान्तरसे निरन्तर-रूपसे लोक-लोकान्तरको पिण्डीकृत और पृथक्कृत कर रही है, और मैं उसीकी गोदमें निर्भय होकर आरामसे बैठा हुआ हूं, उसकी भीषण सत्ताको जान भी नहीं पा रहा हूँ। यह विश्वव्यापी विराट व्यापार हमारे विश्रामको लेशमात्र भी हानि नहीं पहुँचा रहा। इसमें हम खेल रहे हैं, घर बना रहे हैं। यह हमारा कौन है? इससे प्रश्न करनेसे यह कुछ भी उत्तर नहीं देता। यह चारों ओर आकाशसे आकाशान्तरमें अज्ञात-रूपसे शतधा-सहस्रधा चलता चला गया है। इस मूक मूढ़ महाबहुरूपीके साथ किसने हमें ऐसे प्रिय परिचित आत्मीय सम्बन्धसे बाँध दिया है? वह कौन है? वही है, जो—

'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः।'

इस 'एक'को हम विश्वके वैचित्र्यमें सुन्दर-स्वरूपमें और विश्वकी शक्तिमें शक्ति-स्वरूपमें देख रहे हैं,–इसी तरह मनुष्यके संसारमें उस स्तब्ध 'एक'का भाव क्या है? वह भाव है 'मङ्गल-भाव'। यहाँ आघात-प्रतिघातोंकी सीमा

नहीं है, यहाँ सुख-दुःख विरह-मिलन विपद-सम्पद् और हानि-लाभसे संसारका सर्वांश और सर्वक्षण विक्षुब्ध हो रहा है। किन्तु इस चाञ्चल्यमें, इस संग्राममें वही एक नियत स्तब्ध-हुआ विराज रहा है, इसीलिए संसार ध्वंस नहीं होता, इसीलिए नाना विरोध-विद्वेषमें भी पिता-माताके साथ पुत्र, भ्राताके साथ भ्राता, प्रतिवेशीके साथ प्रतिवेशी, निकटके साथ दूर प्रतिदिन और प्रतिक्षण ही ग्रथित होता रहता है। उस ऐक्य-जालको हम क्षणिकके पश्चात्तापमें जितना ही छिन्न-विच्छिन्न कर रहे हैं उतना ही वह स्वतः जुड़ता चला जा रहा है। जैसे खण्ड-रूपमें हम जगतमें असंख्य कदर्यताओंको देखते हैं, किन्तु फिर भी समस्त जगत् महा-सौन्दर्यमें प्रकाशित है, ठीक वैसे ही, संसारमें पाप-तापकी सीमा नहीं है, फिर भी समस्त संसार अविच्छिन्न मङ्गल-सूत्रमें चिरकाल धृत हुआ विद्यमान है। इसके अंशोंमें कितनी अशान्ति और कितना असामंजस्य देखते हैं, किन्तु फिर भी देखते हैं कि इसका सामग्रिक मङ्गल-आदर्श किसी भी तरह नष्ट नहीं होता। इसीलिए मनुष्य संसारको ऐसे सहज-रूपमें आश्रय किये-हुए है। इतना विशाल लोक-संघ है, इतने असंख्य अनात्मीय हैं, इतना प्रबल स्वार्थ-संघात है, फिर भी तो यह संसार रमणीय है, फिर भी तो यह हमारी रक्षा और पालन करनेकी चेष्टा करता है; नष्ट तो नहीं करता। और इसका दुःख-ताप भी महामङ्गल-सङ्गीतकी एकतामें अपूर्व छन्दमें मिलित हो रहा है, कारण— 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः।'

हम अपने जीवनको जो प्रतिक्षण खण्ड-खण्ड करके देखा करते हैं उसीसे संसार-ताप हमारे लिए दुःसह होता है। समस्त क्षुद्र विच्छिन्नताओंको यदि हम उस महान् एकमें ग्रथित कर सकें, तो समस्त ताप-परितापोंसे हम परित्राण पा सकते हैं। अपनी सम्पूर्ण हृदय-वृत्ति और समस्त कर्म-प्रचेष्टाओंको यदि हम उस महान् 'एक'के द्वारा समाच्छन्न करके देखें, तब फिर कौनसी वाधा है जिससे हमारी अधीरता है, कौनसा विघ्न है जिससे हमारी निराशा है, किसी मनुष्यकी कौनसी ऐसी बात है जिससे हमारा क्षोभ है! फिर किस सामर्थ पर हमारा अहङ्कार है और किस विफलतापर हमारी ग्लानि है! कहनेका तात्पर्य यह है कि उस दशामें हमारे समस्त कार्योंमें धैर्य और शान्ति, हमारी

समस्त हृदय-वृत्तियोंमें सौन्दर्य और मङ्गल उद्भासित हो उठता है, हमारा दुःख-ताप पुण्यमें विकसित होता है और संसारकी समस्त आघात-वेदनाएँ माधुर्यसे उच्छ्वसित हो उठती हैं। तब हम सर्वत्र उस स्तब्ध एकका मङ्गल-बन्धन अनुभव करके संसारके दुःखके अस्तित्वको दुर्भेद्य प्रहेलिका नहीं समझते, दुःखमें शोकमें अभावमें हम नतमस्तक होकर उसी एकको स्वीकार करते हैं जिसमें युग-युगान्तरसे समस्त जगत्-संसारके समस्त दुःख-तापका समस्त तात्पर्य अखण्ड-मङ्गलमें परिसमाप्त होता आया है।

"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।"

'मृत्युसे वह मृत्युको प्राप्त होता है जो उसे नाना करके देखता है।'

खण्डतामें कदर्यता है, सौन्दर्य है एकमें। खण्डतामें प्रयास है, शान्ति है एकमें। खण्डतामें विरोध है, मङ्गल है एकमें। इसी प्रकार खण्डतामें ही मृत्यु है, अमृत है उसी एकमें। उस एकको विच्छिन्न करके देखनेसे सहस्रोंके हाथसे हम अपनी रक्षा नहीं कर सकते। हाँ, विषय अवश्य प्रबल हो उठते हैं, धन-जन-मान बड़ा आकार धारण करके हमें घुमाते रहते हैं, अश्वरथ ईंट काठ आदि सम्मान लाभ करते हैं, द्रव्य-सामग्री संग्रह करनेकी चेष्टाका अन्त नहीं रहता और प्रतिवेशियोंके साथ निरन्तर प्रतियोगिता जागती रहती है। जीवनके शेष दिन तक छीना-झपटी और मार-काटसे हम अपनेको खण्ड-खण्ड करते रहते हैं, और मृत्यु जब हमें इस भाण्डार-द्वारसे अकस्मात् खींच ले जाती है तब उस शेष क्षणमें हम अपने समस्त जीवनके बहु-विरोधसे सञ्चित स्तूपाकार द्रव्य-सामग्रियोंको ही अपनी प्रियतमा समझकर, अपनी आत्माका परम आश्रय-स्थल जानकर, अन्तिम बलसे उन्हें अपनी छातीसे लगाये रखना चाहते हैं!

"मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।"

'मनके द्वारा ही यह मिलता है कि उनमें नाना कुछ भी नहीं है।'

विश्वजगत्में जो अप्रमेय ध्रुव विद्यमान हैं वे वाह्यतः कहीं भी प्रतिभात नहीं हैं, मन ही नानामें उस एकको देखता है, उस एककी प्रार्थना करता है, उस एकको आश्रय करके अपनेको चरितार्थ करता है। नानामें उस एकको

बिना पाये मनको सुख-शान्ति और मंगल नहीं प्राप्त हो सकता, उसके उद्भ्रान्त भ्रमणका अन्त नहीं रहता। उस ध्रुव एकके साथ मन अपनेको दृढ़ताके साथ नहीं मिलाता तो वह अमृतके साथ नहीं मिल सकता, वह खण्ड-खण्ड मृत्युके द्वारा आहत ताड़ित और विक्षिप्त हुआ फिरता रहता है। मन अपने स्वाभाविक धर्मके कारण ही कभी जानकर तो कभी बिन-जाने, कभी वक्र-पथसे तो कभी सरल-पथसे, समस्त ज्ञानमें, समस्त भावमें, प्रतिक्षण उसी परम ऐक्यके परम आनन्दका सन्धान करता फिरता है। और जब उसे वह मिल जाता है तब उसी क्षण वह बोल उठता है, 'मैं अमृतको पा गया', बोल उठता है—

"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।"

'अन्धकारके बाद मैंने इस ज्योतिर्मय महान् पुरुषको जाना है। जो उसे जानते हैं वे अमर होते हैं।'

याज्ञवल्क जब अपनी पत्नी मैत्रेयीको अपनी समस्त सम्पत्ति देकर वनको जानेके लिए उद्यत हुए तो मैत्रेयीने उनसे पूछा, "इन सबको लेकर मैं क्या अमर होऊंगी?" याज्ञवल्कने कहा, "नहीं, जो उपकरणोंको लेकर रहते हैं उनका जैसा जीवन है वैसा ही तुम्हारा जीवन होगा।" तब मैत्रेयीने कहा—

"येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्?"

'जिसके द्वारा मैं अमृता नहीं हो सकती उसे लेकर मैं क्या करूंगी?'

जो बहु है, जो विच्छिन्न है और जो मृत्युके द्वारा आक्रान्त है, उसका परित्याग करके मैत्रेयीने अखण्ड अमृत एकमें आश्रय पानेकी प्रार्थना की थी। मृत्यु इस जगत्‌के साथ, विचित्रके साथ, अनेकके साथ हमारे सम्बन्धका परिवर्तन कर देती है; किन्तु उस एकके साथ वह हमारा कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकती। इसलिए, जो साधक हैं वे सम्पूर्ण अन्तःकर उस एकका आश्रय लेते हैं, वे अमृतको वरण करते हैं; उन्हें किसी क्षतिका भय नहीं, किसी विच्छेदकी आशंका नहीं। वे जानते हैं कि जीवनका सुख-दुःख नियत चञ्चल है, किन्तु उसमें वह कल्याणरूपी 'एक' स्तब्ध-हुआ विराजमान है; हानि-लाभ नित्य

आता-जाता रहता है, किन्तु वह एक परमलाभ आत्मामें स्तब्ध-हुआ विराज रहा है ; विपद्-सम्पद् क्षण-क्षणमें आवर्तित होती रहती है, किन्तु—

"एषास्य परमा गतिः, एषास्य परमा सम्पद्,
एषोऽस्य परमो लोकः, एषोऽस्य परम आनन्दः ।"

'वे एक ही हैं, जो जीवोंकी परम गति हैं, जो जीवोंकी परम सम्पद् हैं, जो जीवोंका परम लोक हैं, जो जीवोंका परम आनन्द हैं ।'

रेशम-पशम, आसन-वसन, काष्ठ-लोष्ट्र, स्वर्ण-रौप्यको लेकर कौन विरोध करे ? ये मेरे कौन हैं ? ये मुझे क्या दे सकते हैं ? ये मेरी परम सम्पद्को अपनी आड़में छिपाये रहते हैं, किन्तु उससे दिन-रात्रिमें मैं तो कभी लेशमात्र क्षोभ अनुभव नहीं कर रहा, केवल उनके पुञ्जीकृत संचयमें ही गर्व अनुभव कर रहा हूं ! यह तो हाथी-घोड़ा-काँच-पत्थरका ही गौरव है, मेरी आत्माका गौरव नहीं है । शून्य हृदयमें हृदयेश्वरका स्थान नहीं होता । सर्वापेक्षा हीनता जो परमार्थ-हीनता है, उससे हमारा सम्पूर्ण अन्तःकरण रिक्त श्रीहीन और मलिन है, केवल वसन-भूषण और उपकरण-आयोजनसे ही हम स्फीत हैं । जगदीश्वरका कार्य हम नहीं कर सकते, कारण शय्या-आसन-वेश-भूषाके चरणोंमें हमने दासता का लेख लिख दिया है, जड़-उपकरण-जंजालके हाथ हमने अपना मस्तक बेच दिया है,–इन सब धूलिमय पदार्थोंकी धूल झाडते-झाड़ते ही हमारे दिन बीत जाते हैं । ईश्वरके काममें कुछ देनेका हममें सामर्थ्य नहीं, कारण शय्या-आसन अश्व-रथमें ही हमारा सारा दान शेष हो जाता है । सबके सब मङ्गल-कार्य पड़े रहते हैं, कारण लोगोंके मुँहसे अपने नामको ध्वनित करवाते रहनेके आडम्बरमें ही हमारी समस्त चेष्टाओंका अन्त हो जाता है । शत-छिद्र कलशमें जल संचय करनेके लिए जीवनके शेष क्षण तक हम व्यस्त रहते हैं, और अवारित अमृत-पारावार हमारे सामने स्तब्ध हुआ विराज रहा है ! जो सकल सत्यके सत्य हैं उन्हें हम अपने भीतर-बाहर, ज्ञान और कर्ममें कहीं भी नहीं देखते । इतनी बड़ी अन्धताको लेकर हम परितृप्त हैं ! जो 'आनन्दरूपममृतम्' हैं, जिस आनन्दके कणमात्र आनन्दसे समस्त जीव-जन्तुओंके प्राणोंकी चेष्टा, मनकी चेष्टा, प्रीतिकी चेष्टा, पुण्यकी चेष्टा उत्साहित है, उसमें हमें आनन्द नहीं है ।

हमारा आनन्द, हमारा गर्व, केवल उपकरण-सामग्रीमें है। ऐसे विराट जड़त्वसे हम घिरे-हुए हैं ! जिनके अदृश्य इङ्गित मात्रसे जीव-प्रकृति अज्ञात-अकीर्तित हजारों वर्षोंमें होकर स्वार्थसे परमार्थमें, स्वेच्छाचारसे संयममें, एकतासे समाज-तन्त्रमें उपनीत हुई है, जो 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' हैं, जो 'दग्धेन्धन इवानलः' हैं, जो सर्वकाल सर्वलोकमें हमारे ईश्वर हैं, उनका आदेश-वाक्य हमारे कर्ण-गोचर नहीं होता ; उनके कर्ममें हमारी कोई श्रद्धा नहीं, जीवनके कुछ दिन मात्र जिन लोगोंको हम पाँच-जनोंके रूपमें जानते हैं केवल उन्हींके भय और चाटुवाक्योंसे चालित होना ही हमने अपने दुर्लभ मानव-जन्मका लक्ष्य बना लिया ! ऐसी महामूढ़तासे हम समाच्छन्न हैं ! हमें ज्ञान नहीं, हम जानते नहीं, हमें दिखाई नहीं देता कि—

'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।'

मेरी दृष्टिमें समस्त जगत् छिन्न-विच्छिन्न है, समस्त विज्ञान खण्ड-विखण्ड है, समस्त जीवनका लक्ष्य क्षुद्र-क्षुद्र अंशोंमें विभक्त-विदीर्ण है।

हे अनन्त विश्व-संसारके परम एक परमात्मन्, तुम मेरे सम्पूर्ण चित्तको ग्रहण करो। तुम समस्त जगत्के साथ-साथ मुझे भी तो पूर्ण किये-हुए स्तब्ध हुए विराज रहे हो, तुम ऐसा करो कि जिससे मैं तुम्हारी उस पूर्णताको अपने देह-मनमें, बाह्य-आभ्यन्तरमें, ज्ञान और भावमें प्रत्यक्ष अनुभव कर सकूँ। मैं अपनेको सर्वतोभावसे तुम्हारे द्वारा आवृत रखकर, नीरव और निरभिमान होकर, तुम्हारा कार्य करना चाहता हूँ। प्रतिक्षण तुम मुझे आदेश करते रहो, आह्वान करते रहो; अपनी प्रसन्न दृष्टिसे मुझे आनन्द देते रहो, अपनी दक्षिण बाहुसे मुझे बल देते रहो। और जब मेरे दुर्दिन आयें, बन्धुगण साथ छोड़ दें, जगत्के लोग मुझे लाञ्छित करें और अनुकूलता मेरे लिए दुर्लभ हो जाय, तब तुम मुझे परास्त और भूलुण्ठित न होने देना। तब मुझे सहस्रोंके भयसे भीत, सहस्रोंके वाक्यसे विचलित और सहस्रोंके आकर्षणसे विक्षिप्त न होना पड़े। एक-तुम मेरे चित्तके एकासनमें अधीश्वर हुए विराजमान रहो, मेरे समस्त कर्मपर एकाकी तुम्हीं अधिकार किये रहो, मेरे समस्त अभिमानको दमन करके, मेरी समस्त प्रवृत्तियोंको अपने चरणोंमें एकत्र और संयत कर रखो। हे अक्षयपुरुष, पुरातन

भारतवर्षमें तुममेंसे जब पुरातनी प्रज्ञा प्रसूत हुई थी, तब हमारे सरलहृदय पितृ-पुरुषोंने ब्रह्मके अभयको, ब्रह्मके बलको, जान लिया था। वे एकके बलसे बली, एकके तेजसे तेजस्वी और एकके गौरवसे महीयान थे। पतित भारतके लिए पुनः हम उस प्रज्ञालोकित निर्मल निर्भय ज्योतिर्मय सुदिनकी तुमसे प्रार्थना करते हैं। इस पृथिवीपर और एक बार हमें तुम्हारे सिंहासनकी ओर मस्तक उठा कर खड़ा होने दो। हम केवल युद्ध-विग्रह यन्त्र-तन्त्र वाणिज्य-व्यवसाय द्वारा नहीं, हम सुकठिन सुनिर्मल सन्तोष-बलिष्ठ ब्रह्मचर्यके द्वारा महिमान्वित होना चाहते हैं। हम राजत्व नहीं चाहते, प्रभुत्व नहीं चाहते, ऐश्वर्य नहीं चाहते, केवल प्रतिदिन एक बार 'भूर्भुवः स्वर्लोक' में तुम्हारी महासभाके महाप्राङ्गणमें खड़े होनेका अधिकार चाहते हैं। फिर हमारा कोई अपमान नहीं रहेगा, कोई अधीनता नहीं रहेगी, किसी प्रकारकी दरिद्रता नहीं रहेगी। हमारी वेशभूषा दीन हो तो हुआ करे, हमारी उपकरण-सामग्री विरल हो तो हुआ करे, उससे हम लेशमात्र लज्जा अनुभव न करें, किन्तु हमारे चित्तमें भय न रहे, क्षुद्रता न रहे, बन्धन न रहे, आत्माकी मर्यादा समस्त मर्यादाओंके ऊपर रहे, और तुम्हारी दीप्तिसे ब्रह्म-परायण भारतवर्षका मुकुट-विहीन उन्नत ललाट ज्योतिष्मत् हो उठे। हमारे चारों तरफ सभ्यता-अभिमानी विज्ञान-मदमत्त बाहुबल-गर्वित स्वार्थ-निष्ठुर जातियाँ जिन वस्तुओंको लेकर अहोरात्र अपने नख-दन्त पैना रही हैं, परस्परके प्रति सतर्क-रुष्ट कटाक्ष कर रही हैं, पृथिवीको आतङ्कसे कम्पित और भ्रातृ-शोणित-पातसे पङ्किल किये दे रही हैं, उन सब काम्य-वस्तुओं और परिस्फीत आत्माभिमानके द्वारा वे कभी भी अमर नहीं हो सकतीं। उनके यन्त्र-तन्त्र, उनका विज्ञान, उनके पर्वत-प्रमाण उपकरण उनकी रक्षा नहीं कर सकते। हे एकः, उनकी उस बलमत्तता धनमत्तता और उपकरण-मत्तताके प्रति भारतवर्षका कभी लोभ न हो। हे अद्वितीय एक, ऐसा करो कि तपस्विनी भारतभूमि अपना वल्कलवसन पहने तुम्हारी ओर देखकर ब्रह्मवादिनी मैत्रेयीके उसी कण्ठसे कह सके—

"येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् ?"

'जिसके द्वारा मैं अमृता नहीं होऊंगी उसे लेकर मैं क्या करूंगी ?'

हे एकः, 'तुम तोप-कमानोंके धूम्रजाल और स्वर्ण-धूलिसे समाच्छन्न तमसावृत राष्ट्र-गौरवकी ओर भारतवर्षकी दृष्टि आकर्षित न करना। हे विधातः, तुम अपने उस अनन्धकार-लोकके प्रति दीन भारतका नत मस्तक उठा दो।

"यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासञ्छिव एव केवलः।"

'जब तुम्हारा वह अनन्धकार आविर्भूत होता है तब कहाँ तो दिन, कहाँ रात, कहाँ सत्, कहाँ असत्, तब 'शिव एव केवलः', केवल शिव, केवल मङ्गल है।

"नमः शम्भवाय च मयोभवाय च,
नमः शङ्कराय च मयस्कराय च,
नमः शिवाय च शिवतराय च।"

'हे शङ्कर, हे मयोभव, तुम्हें नमस्कार है। हे शङ्कर, हे मयस्कर, तुम्हें नमस्कार है। हे शिव, हे शिवतर, तुम्हें नमस्कार है।'

बंगला-रचना: वि०सं०१९५८

उत्सव

संसारमें प्रतिदिन हम जिस सत्यको अपने स्वार्थकी विक्षिप्ततामें भूले रहते हैं, उत्सवका दिन उस अखण्ड सत्यको स्वीकार करनेका दिन है, और इसीलिए उत्सवमें मिलन आवश्यक है। वास्तवमें विश्वकी समस्त वस्तुओंको ही हम जब विच्छिन्न रूपमें देखते हैं, तभी इस सत्यको हम नहीं देख पाते, और तभी प्रत्येक खण्ड-पदार्थ और प्रत्येक खण्ड-घटना हमारे मनोयोगको स्वतन्त्र-रूपसे आघात करती रहती है। इससे पद-पदपर हमारा उद्यम बढ़ता जाता है और कष्ट बढ़ते जाते हैं, फिर उसमें आनन्द नहीं रहता। इसीलिए हमारे स्वार्थमें, हमारी स्वतन्त्रतामें पूर्णता नहीं होती, परितृप्ति नहीं होती, और हमें उसका तात्पर्य नहीं मिलता। हम उसकी रागिनी खो देते हैं, उसका चरम सत्य हमारे अगोचर रह जाता है। किन्तु जिस माहेन्द्र-क्षणमें हम खण्डको मिलित रूपमें देखते हैं उसी क्षणमें उसी मिलनमें हम सत्यकी उपलब्धि करते हैं, और इस अनुभूतिमें ही हमारा आनन्द है। और तभी हम देख पाते हैं—

'निखिलमें कैसा है महोत्सव तव ! करता विश्व बन्दन है
श्री-सम्पद-भूमास्पद निर्भय शरणमें ।'

इसीलिए मेरा कहना है कि उत्सव कभी अकेलेका नहीं होता। मिलनमें ही सत्यका प्रकाश है, और उस मिलनमें ही सत्यका अनुभव करना उत्सवकी परिपूर्णता है। अकेलेमें हम जिसे ध्यानके द्वारा समझनेकी चेष्टा करते हैं, निखिलमें उसीको प्रत्यक्ष कर लें, तभी हमारी उपलब्धि सम्पूर्ण होती है।

मिलनमें जो सत्य है वह केवल विज्ञान नहीं है; वह आनन्द है, वह रस-स्वरूप है, वह प्रेम है। वह आंशिक नहीं है, वह समग्र है। कारण, वह केवल बुद्धिको ही नहीं किन्तु हृदयको भी परिपूर्ण करता है। जो नाना स्थानोंसे हम सबको एककी ओर आकर्षित कर रहे हैं, जिनके समक्ष, जिनके दक्षिण-कर-तलकी छाया-तले हम सब आमने-सामने बैठे हैं, वे कोई नीरस सत्य नहीं हैं, वे हैं 'प्रेम'। यह प्रेम ही उत्सवका देवता है, यह मिलन ही उसका सजीव-सचेतन मन्दिर है।

मिलनकी जो शक्ति है, उसमें प्रेमकी जो प्रबल सत्यता है, उसका परिचय संसारमें हमें पद-पदपर मिला है। संसारमें भयको यदि कोई सम्पूर्ण-रूपसे अतिक्रम कर सकता है, विपत्तियोंको सम्पूर्णतः तुच्छ कर सकता है, क्षतिको सम्पूर्णतः अस्वीकार या अग्राह्य कर सकता है और मृत्यु तककी कोई उपेक्षा कर सकता है, तो वह एक 'प्रेम' ही है। स्वार्थपरताको हमने जगत्का एक सुकठिन सत्य समझ रखा है, किन्तु उस स्वार्थपरताके सुदृढ़ जालको अनायास ही छिन्न-विच्छिन्न कर देता है 'प्रेम'।

जो अभागे देशवासी परस्परके सुख-दुःखमें, सम्पद और विपदमें, एक होकर मिल नहीं सकते वे संसारके सर्वश्रेष्ठ सत्यसे भ्रष्ट होनेसे ही श्रीसे भ्रष्ट हो जाते हैं। वे त्याग नहीं कर सकते, और इसीलिए लाभ करना नहीं जानते। वे संसारमें सदा ही भयभीत होकर, अपमानसे लाञ्छित होकर, दीनप्राण और नतमस्तक-हुए भटकते रहते हैं। इसका कारण क्या? इसका कारण यही कि उन्हें सत्य नहीं मिल रहा है, वे प्रेमको नहीं पा रहे हैं, और इसीलिए उन्हें किसी भी तरह बल नहीं मिल रहा है। असलमें, हम सत्यकी जितने परिमाणमें

उपलब्धि करते हैं, उसका मूल्य भी उतने ही परिमाणमें दे सकते हैं। हम भाईको जितना सत्य-रूपमें जानते हैं, भाईके लिए उतने परिमाणमें ही त्याग कर सकते हैं। जो जलस्थल हमें वेष्टित किये-हुए है और जिन लोगोंके बीच हमने जन्म लिया है, यदि हम यथेष्ठ-रूपमें उनकी सत्यता अनुभव न कर सकें, तो उनके लिए हम आत्मोत्सर्ग नहीं कर सकते।

इसीलिए मेरा यह कहना है कि सत्य हमारे अन्तःकरणमें प्रेमके रूपमें आविर्भूत होनेपर ही सत्यका विकाश होता है। और तब हमें बुद्धिकी दुबिधासे, मृत्युकी पीड़ासे, स्वार्थके बन्धन और क्षतिकी आशंकासे मुक्ति मिल जाती है। तब इस अस्थिर संसारमें हमारा चित्त ऐसा एक आदर्श ढूँढ़ लेता है कि उसपर वह अपना सर्वस्व अर्पित करनेको तैयार हो जाता है।

प्रतिदिनकी उद्भ्रान्तिमें, बीच-बीचमें कभी-कभी, मनुष्य इस स्थितिके सुखको, इस प्रेमके आस्वादको पानेके लिए ही उत्सव-क्षेत्रमें अनेक मनुष्योंका एकत्र आह्वान करता है। उस दिन उसका व्यवहार प्रतिदिनके व्यवहारके विपरीत हो उठता है। उस दिन एकका घर 'सबका घर' हो जाता है, और एकका धन सबके लिए व्ययित होता है। उस दिन धनी निर्धनको सम्मान दान करता है, उस दिन पण्डित मूर्खको आसन दान करता है। क्यों? कारण, अपने और पराये, स्वयं और अन्य, धनी और निर्धन, पण्डित और मूर्ख, सब कोई इस जगत्में एक ही प्रेमके द्वारा विधृत हैं अर्थात् एक प्रेम ही सबको धारण किये-हुए है, यही परम सत्य है, इस सत्यकी वास्तविक उपलब्धि-अनुभूति ही परमानन्द है। उत्सव-दिनका अवारित मिलन इस उपलब्धिका ही अवसर है। जो व्यक्ति इस उपलब्धिसे बिलकुल ही वञ्चित रहता है वह व्यक्ति उत्सव-सम्पदके बीच आकर भी दीन-रूपमें रीते-हाथ वापस चला जाता है।

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", ब्रह्म सत्य-स्वरूप है, ज्ञान-स्वरूप है, अनन्त-स्वरूप है। किन्तु यह 'ज्ञानमय अनन्त सत्य' प्रकाशित कैसे हो रहा है? "आनन्द-रूपममृतं यद्विभाति", वह आनन्द-रूपमें, अमृत-रूपमें प्रकाशित हो रहा है। जो-कुछ प्रकाशित है वह उसका आनन्दरूप है, उसका अमृतरूप है, अर्थात् उसका प्रेम है। विश्वजगत् उसका अमृतमय आनन्द है, उसका प्रेम है।

सत्यकी परिपूर्णता ही प्रकाश है, सत्यकी परिपूर्णता ही प्रेम है, आनन्द है। हमने तो लौकिक व्यापारोंमें ही देखा है कि अपूर्ण सत्य अपरिस्फुट होता है। और यह भी देखा है कि जिस सत्यकी हम जितने सम्पूर्ण-रूपसे उपलब्धि करते हैं उसमें हमें उतना ही आनन्द मिलता है, उसमें हम उतना ही प्रेम पाते हैं। उदासीनके लिए तृणमें कोई आनन्द नहीं है, तृण उसके लिए तुच्छ है, तृणका प्रकाश उसके लिए अत्यन्त क्षीण है। किन्तु उद्भिद्‌वेत्ताके लिए तृणमें यथेष्ट आनन्द है, कारण तृणका प्रकाश उसके लिए अत्यन्त व्यापक है, और इस बातको वह जानता है कि उद्भिद-पर्यायमें तृणका सत्य क्षुद्र नहीं है। जो व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टिसे तृणको देखना जानता है, तृणमें उसका आनन्द और भी परिपूर्ण है ; उसकी दृष्टिमें निखिलका प्रकाश उस तृणके प्रकाशमें प्रतिविम्बित है। तृणका सत्य उसके लिए क्षुद्र सत्य, अस्फुट सत्य न होनेसे ही वह उसके आनन्दको, उसके प्रेमको उद्‌बोधित करता है। जिस मनुष्यका प्रकाश मेरे लिए क्षुद्र है, अस्फुट है, उसमें मेरा प्रेम असम्पूर्ण है। जिस मनुष्यको मैं इतना सत्य मानता हूँ कि उसके लिए अपने प्राण दे सकता हूँ, उसमें मेरा आनन्द है, मेरा प्रेम है। दूसरोंके स्वार्थकी अपेक्षा अपना स्वार्थ मेरे लिए इतना अधिक सत्य है कि दूसरोंके स्वार्थ-साधनमें मेरा प्रेम नहीं है। किन्तु बुद्धदेवके लिए जीव-मात्रका प्रकाश इतना सुपरिस्फुट था कि उनकी मङ्गल-चिन्तामें उन्होंने राज्य त्याग दिया था।

इसीसे मेरा कहना है कि आनन्दसे ही सत्यका प्रकाश है और सत्यके प्रकाशसे ही आनन्द है। "आनन्दाद्‌ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते", यह जो-कुछ हुआ है सो सब आनन्दसे ही उत्पन्न हुआ है। अतएव जब तक यह जगत् हमारे समक्ष उस आनन्द-रूपमें, प्रेम-रूपमें व्यक्त नहीं होता, तब तक समझना चाहिए कि वह पूर्ण सत्य-रूपमें ही व्यक्त नहीं हुआ। जगतमें हमारा आनन्द और हमारा प्रेम ही सत्यके प्रकाश-रूपकी उपलब्धि है। 'जगत् है' इतना सत्य कुछ भी नहीं, किन्तु 'जगत् आनन्द है' यह सत्य ही पूर्ण है।

'आनन्द' किस रूपमें अपनेको प्रकाशित करता है ? प्राचुर्यमें, ऐश्वर्यमें, सौन्दर्यमें। जगत्-प्रकाशमें कहीं भी कोई दरिद्रता नहीं है, कृपणता नहीं है,

जितने-भरका प्रयोजन है, केवल उतनेमें ही समस्तका अवसान नहीं है। यह जो लाखों नक्षत्रोंसे आलोकका झरना आकाश-भरमें झर रहा है और जहाँ कहीं भी आकर पड़ता है वहीं वह अपने वर्ण-ताप-प्राणसे उच्छ्वसित हो उठता है, यह आनन्दका प्राचुर्य है। प्रयोजन जितना है, यह उससे कहीं अधिक है, यह अविच्छिन्न प्राचुर्य है। वसन्तऋतुमें लता-गुल्मोंकी गाँठ-गाँठमें कलियाँ और फूल खिलकर, कोंपल निकलकर, जोरोंकी जो उन्मादना आरम्भ हो जाती है, आम्र-शाखाओंमें जो मुकुल भर उठते हैं और उन वृक्षोंके तले अनर्थक जो उनका ढेर लग जाता है, यह आनन्दका प्राचुर्य है। सूर्योदय और सूर्यास्तके समय मेघोंके मुखसे नाना परिवर्तमान विचित्र रंगोंका पागलपन प्रकट होता रहता है, इसका कोई प्रयोजन नहीं दिखाई देता; किन्तु यह आनन्दका प्राचुर्य है। प्रभातमें पक्षियोंके शत-शत कण्ठोंसे उद्गीरित सुरके उच्छ्वाससे अरुण गगनमें मानो चारों ओर गीतोंकी जो होली-सी चलती रहती है, यह भी तो प्रयोजनसे अतिरिक्त है,— यह सब आनन्दका ही प्राचुर्य है। आनन्द उदार है, आनन्द अकृपण है, सौन्दर्य और सम्पदमें आनन्द अपनेको निःशेष-रूपसे बाँटते-बाँटते मानो अपना अन्त ही नहीं पाता।

उत्सवके दिन हम जिस सत्यके नामपर बहुतेरे लोग सम्मिलित होते हैं, वह आनन्द है, वह प्रेम है। उत्सवमें एक दूसरेसे कोई प्रयोजन नहीं होता, समस्त प्रयोजनोंसे अधिक जो है, उत्सव उसीको लेकर होता है। इसीलिए उत्सवका एक प्रधान लक्षण है 'प्राचुर्य'। इसीलिए उत्सवमें हम प्रतिदिनका कार्पण्य छोड़ देते हैं; प्रतिदिन जैसे हम प्रयोजनका हिसाब रखके चलते हैं, उत्सवके दिन वैसे हिसाबको हमें तिलाञ्जलि दे देनी पड़ती है। दैन्यके दिन बहुत हैं, किन्तु उत्सवका एक दिन 'ऐश्वर्यका दिन' है।

उत्सवका दिन 'सौन्दर्यका दिन' है। सौन्दर्य भी कैसा? प्रयोजनसे बड़ा। यह 'आवश्यक' नहीं है, यह 'आनन्दका विकास' है, यह 'प्रेमकी भाषा' है। फूल यदि सुन्दर न होता, तो भी वह हमारे ज्ञानगम्य होता, इन्द्रिय-गम्य होता; किन्तु फूल जो हमें सौन्दर्य देता है वह उसका अतिरिक्त दान है। यह बाहुल्य-दान ही हमसे बाहुल्य-प्रतिदान ग्रहण करता है। यह जो

बाहुल्य-दान है, यही प्रेम है। इस बाहुल्य-दानसे फूलको क्या, और-किसीको क्या! किन्तु एक ओर यह बाहुल्य सौन्दर्य है और दूसरी ओर यह प्रेम है, इसीको लेकर जगतका नित्योत्सव है, यह आनन्द-समुद्रकी तरङ्ग-लीला है।

इसीसे, उत्सवका दिन सौन्दर्यका दिन है। इस दिनको हम फूल-पत्तियोंसे सजाते हैं, दीपमालाओंसे उज्ज्वल करते हैं, संगीतसे मधुर कर देते हैं।

और इस तरह, मिलनके द्वारा, प्राचुर्यके द्वारा, सौन्दर्यके द्वारा हम उत्सवके दिनको वर्षके साधारण दिनोंके ऊपर मुकुटमणि-स्वरूप बना देते हैं। आनन्दके प्राचुर्यसे, ऐश्वर्यसे, सौन्दर्यसे विश्वजगत्में जो अमृत-रूपमें प्रकाशमान हैं, जो 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' हैं, उत्सवके दिन उन्हींकी उपलब्धिके द्वारा पूर्ण होकर हमारा मनुष्यत्व अपने क्षणिक अवस्थागत समस्त दैन्यको दूर करेगा, और अन्तरात्माके चिरन्तन ऐश्वर्य और सौन्दर्यको प्रेमके आनन्दमें अनुभव करता और विकसित करता रहेगा। इस दिन वह अनुभव करेगा कि वह क्षुद्र नहीं है, वह विच्छिन्न नहीं है, विश्व ही उसका निकेतन है, सत्य ही उसका आश्रय है, प्रेम ही उसकी चरम गति है, विश्वके सभी उसके अपने हैं; क्षमा उसके लिए स्वाभाविक है, त्याग उसके लिए सहज है, और मृत्यु उसके लिए है ही नहीं। किन्तु यह कहना बाहुल्य होगा कि उत्सवका यह आयोजन उतना दुःसाध्य नहीं जितनी कि इसकी उपलब्धि दुरूह है। उत्सव जब अनुपम सुन्दर शतदल कमलके समान विकसित हो उठता है तब हममेंसे कितने ऐसे हैं जो मधुकरके समान उसके सुगन्धपूर्ण मधुकोषमें निमग्न-लीन होकर उसका सुधारस उपभोग कर सकते हैं? इस दिन भी तो सम्मिलनको हम भीड़ बना देते हैं, उसके आयोजनको केवल आडम्बर कर डालते हैं। इस दिन भी हमारा चित्त तुच्छ कौतूहलमें केवल बाहर ही विक्षिप्त हुआ फिरता रहता है। जो आनन्द अन्तरिक्षमें अन्तहीन ज्योतिष्कलोककी शिखा-शिखामें नित्य-निरन्तर आन्दोलित है, अपने गृह-प्राङ्गणमें दीपमाला जलाकर क्या हम उस आनन्दकी तरङ्गमें अपने आनन्दको सचेतन-रूपसे मिला देते हैं? हमारी सङ्गीतध्वनि क्या हमें जगतके उस गभीरतम अन्तःपुरमें बहा ले जाती है जहाँ विश्व-भुवनके समस्त सुर अपनी आपात-प्रतीयमान समस्त विरोध-विशृङ्खलताको मिटाता हुआ प्रतिक्षण ही रागिनीके रूपमें उन्मेषित हो रही हो?

हाय, प्रत्येक दिन ही जो दरिद्र है, एक दिनमें वह ऐश्वर्य प्राप्त कैसे करेगा ? प्रत्येक दिन ही जिसका जीवन शोभासे निर्वासित है, सहसा एक ही दिनमें वह सुन्दरके साथ एकासनपर बैठेगा कैसे ? दिनपर दिन जो व्यक्ति सत्यसे और प्रेमसे तैयार होता रहा है, उत्सवके दिन उसीका उत्सव है। हे विश्वयज्ञ-प्राङ्गणके उत्सव-देवता, मैं कौन हूँ ? आज उत्सवके दिन इस आसनको ग्रहण करनेका अधिकार क्या मुझे है ? जीवनकी नौकाको मैं जो प्रतिदिन डाँड़ चला-चलाकर बहाये लिये जा रहा हूँ, वह क्या तुम्हारे महोत्सवके सुवर्णमय घाट तक आज भी पहुँच पाई है ? उसके पीछे क्या एक बाधा है, उसका लक्ष्य क्या कभी ठीक रहता है ? प्रतिकूल तरङ्गोंकी चोटोंको क्या वह सम्हाल सकती है ? दिनपर दिन वह कहाँ-कहाँ भटकती फिर रही है ? आज कहाँसे सहसा तुम्हारे उत्सवमें सबके आह्वानका भार लेकर, हे अन्तर्यामिन्, मेरी अन्तरात्मा तुम्हारे समक्ष लज्जित हो रही है। उसे क्षमा करके तुम ही उसका आह्वान करो। एक दिन नहीं, प्रतिदिन ही उसका आह्वान करो। लौटाओ, लौटाओ,—उसे आत्माभिमानसे लौटाओ ! दुर्बल प्रवृत्तिके निदारुण अपमानसे उसकी रक्षा करो। बुद्धिकी जटिलतामें अब और उसे निष्फल न होने दो। उसे प्रतिदिन तुम अपने विश्व-लोकमें, अपने आनन्द-लोकमें, अपने सौन्दर्य-लोकमें आकर्षित करके उसके चिर-जीवनके सम्पूर्ण दैन्यको चूर्ण कर डालो। जो महापुरुषगण तुम्हारे नित्योत्सवके निमन्त्रणमें आये हैं और जो प्रतिदिन ही निखिल-लोकके साथ तुम्हारे आनन्द-भोजमें आसन ग्रहण किया करते हैं, उनकी पद-धूलि उसे विनम्र नतमस्तकसे माथेसे लगाने दो। उसके मिथ्या गर्वको, उसकी व्यर्थ चेष्टाको, उसकी विक्षिप्त प्रवृत्तिको तुम आज ही अपसारित कर दो, जिससे कल ही से वह विनीत होकर तुम्हारे आसनके सर्व-निम्न स्थानमें धूलि-तले बैठनेका अधिकारी बन सके, जहाँसे वह तुम्हारी उत्सव-सभाका महासङ्गीत कान बिछाये सुन सके और तुम्हारे आनन्द-उत्सवका रस-स्रोत जहाँकी धूलिको भी अभिषिक्त करता रहे। किन्तु जहाँ अहंकार हो, जहाँ तर्क हो, जहाँ विरोध हो, जहाँ ख्याति-लाभके लिए प्रतियोगिता हो, जहाँ मङ्गल-कार्य भी लुब्ध-भावसे गर्वित-भावसे किये जाते हों, जहाँ पुण्य-कर्म

अभ्यस्त आचार-मात्रमें पर्यवसित हों, वहाँ सब-कुछ ही आच्छन्न है, सब-कुछ ही रुद्ध है, वहाँ क्षुद्र वृहत्-रूपमें प्रतिभासित होता है, वृहत् क्षुद्र हो जाता है, वहाँसे तुम्हारे विश्व-यज्ञोत्सवका आह्वान उपहासित होकर लौट आता है। वहाँ तुम्हारा सूर्य आलोक तो देता है, किन्तु वह तुम्हारी स्वहस्त-लिखित आलोकलिपि लेकर प्रवेश नहीं कर सकता; वहाँ तुम्हारी उदार वायु निःश्वास मात्र जुटाती है, अन्तःकरणमें विश्वप्राणको समीरित नहीं कर सकती। उस उद्धत कारागारके पाषाण-प्रासादसे उसका उद्धार करो, अपने उत्सव-प्राङ्गणकी धूलिमें उसे लोटने दो। जगतमें कोई भी उसे न पहचाने, कोई भी उसे न माने, ऐसा करो कि जिससे वह केवल तुम्हें पहचानकर, तुम्हें मानकर चले। ऐसा सौभाग्य उसका कब होगा सो नहीं मालूम, कब तुम उसे अपने उत्सवका अधिकारी बनाओगे सो तुम्हीं जानो। अभी तो उसका यही निवेदन है कि यह प्रार्थना ही कमसे कम उसकी अन्तरात्मामें सत्य हो उठे, सत्यको वह सत्यर्थ-रूपसे चाहे, अमृतको वह मौखिक याचना-वाक्यके द्वारा अपमानित न करे।

बंगला-रचना : वि०सं०१९६२

दिन और रात्रि

सूर्य अस्त हो गया। अन्धकार-अवगुण्ठनके अन्तरालमें सन्ध्या-सीमन्तकी शेष स्वर्णलेखा भी अन्तर्हित हो गई। रात्रिकाल आसन्न है।

यह जो दिन और रात, और रात और दिन प्रतिदिन ही हमारे जीवनको एक बार आलोकके और एक बार अन्धकारके तालसे आघात करते चले जा रहे हैं, ये हमारी चित्त-वीणामें कौनसी रागिणी ध्वनित करते जा रहे हैं? इस तरह प्रतिदिन ही हमारे भीतर जो एक अपूर्व छन्दकी रचना हो रही है, उसमें क्या कोई महान अर्थ नहीं है? हम सब यह जो अनन्त गगनके तले नाड़ीके स्पन्दनकी तरह दिन-रात्रिके नियमित उत्थान-पतनके अभिघातके बीच बढ़ते चले जा रहे हैं, हमारे जीवनमें इस आलोक-अन्धकारकी नित्य

गति-विधिका क्या कोई एक तात्पर्य ग्रथित नहीं हो रहा है? तटभूमिपर प्रत्येक वर्षामें जो एक जलप्लावन बह जाता है और उसके बाद शरत्कालमें वह फिर जलसे जागकर अनाज बोनेके लिए प्रस्तुत होता है, वर्षा और शरत्का यह यातायात क्या तटभूमिके स्तर-स्तरमें अपना इतिहास नहीं रख जाता?

प्रतिदिन नियमित यह जो रात्रिका अवतरण और रात्रिके बाद दिनका अभ्युदय है, इसकी परम विस्मयकारितासे हम चिराभ्यासवश कहीं वंचित न रह जायें! सूर्य सहसा एक समय आकाशके तले अपनी आलोककी पोथी बन्द करके चला जाता है और रात्रि नीरव हाथोंसे और-एक नूतन अध्याय विश्वलोकके सहस्र अनिमेष नेत्रोंके सामने उद्घाटित कर देती है, यह हमारे लिए साधारण बात नहीं है।

यह अल्पकालका परिवर्तन कैसा विपुल है, कैसा आश्चर्यकारी है! किस प्रकार अनायास ही क्षण-भरमें विश्वसंसार भावसे भावान्तरमें पदार्पण करता है! और मजेकी बात यह कि बीचमें कोई विप्लव नहीं, विच्छेदका कोई तीव्र आघात नहीं। एकके अवसान और दूसरेके आरम्भके बीच कैसी स्निग्ध शान्ति है, कैसा सौम्य सौन्दर्य है!

दिनके आलोकमें समस्त पदार्थोंमें परस्पर जो प्रभेद है, जो पार्थक्य है, वही बड़ा होकर, स्पष्ट होकर, हमारे प्रत्यक्ष-गोचर हो उठता है। आलोक हमारे बीच परस्परमें एक व्यवधानका काम करता है, हममेंसे प्रत्येककी सीमा परिस्फुट-रूपसे निर्णय कर देता है। दिनमें हम अपने-अपने काममें स्वतन्त्र हैं, इस काम-काजकी चेष्टाके संघातमें परस्पर विरोध भी उठ खड़ा होता है। दिनमें हम सभी अपनी-अपनी शक्तिका प्रयोग करके जगत्में अपनेको जयी करनेकी चेष्टामें नियुक्त रहते हैं, तब हमारी अपनी-अपनी कर्मशालाएँ ही हमारे लिए विश्व-ब्रह्माण्डके अन्य समस्त बड़े व्यापारोंसे वृहत्तम हो जाती हैं, और अपने-अपने कर्मोद्योगका आकर्षण ही हमारे लिए जगत्के अन्य सब वृहत् आकर्षणोंसे महत्तम हो उठता है।

इतनेमें, नीलाम्बरा रात्रि चुपकेसे दबे-पाँव आकर ज्यों ही निखिलपर स्निग्ध करस्पर्श करती है, त्यों ही हमारा वाह्य प्रभेद अस्पष्ट होने लगता है,

और तब हम सबके बीच परस्परमें जो गभीरतम ऐक्य है उसे अन्तरात्मामें अनुभव करनेका अवसर मिलता है। इसीलिए रात्रि प्रेमका समय है, मिलनका समय है।

इस बातको ठीक तरहसे समझ लेनेसे हम यह स्पष्ट जान जायेंगे कि दिन हमें जो-कुछ देता है, रात्रि केवलमात्र उसका अपहरण ही करती हो सो बात नहीं, अन्धकार केवल अभाव और शून्यता ही लाता हो सो बात नहीं, उसके पास भी देनेकी चीज है, और वह जो-कुछ देता है वह महामूल्य है। रात्रि केवल सुप्तिके द्वारा हमारी क्षति-पर्ति ही करती हो, हमारी क्लान्ति ही दूर करती हो सो बात नहीं, वह हमारे प्रेमका निभृत निर्भर-स्थान है, वह हमारे मिलनका महादेश है।

शक्तिमें हमारी गति है, प्रेममें हमारी स्थिति है। शक्ति कर्ममें अपनेको धावित करती है, प्रेम विश्राममें अपनेको पुञ्जीभूत करता है। शक्ति अपनेको विक्षिप्त करती रहती है, वह चंचल है। प्रेम अपनेको संहत करता है, वह स्थिर है। हमारा चित्त जिनसे प्रेम करता है, संसारमें केवल उन्हींमें विराम प्राप्त करता है। हमारा चित्त जब विश्रामका अवकाश पाता है, तभी वह सम्पूर्ण-रूपसे प्रेम कर सकता है। जगत्‌में हमारा यथार्थ जो विराम है, वह है प्रेम। प्रेम-हीन जो विराम है वह जड़त्व-मात्र है।

इसीसे मेरा कहना है कि 'रात्रि केवल हरण ही करती हो, ऐसी बात नहीं; वह दान भी करती है।' हमारा एक जाता है तो हम और-एक पाते हैं; और 'जाता है' इसीसे हम पा सकते हैं। दिनमें संसार-क्षेत्रमें हमारा सुख है शक्ति-प्रयोगका सुख, रातमें वह अभिभूत होता है इसीसे निखिलमें हम आत्म-समर्पणका आनन्द पाते हैं। दिनमें स्वार्थ-साधनकी चेष्टामें हमारा कर्तृत्व-अभिमान तृप्त होता है, रात्रि उसे खर्व कर देती है, तुच्छ कर देती है, इसीसे हम प्रेम और शान्तिका अधिकार प्राप्त करते हैं। दिनमें आलोकसे परिष्कृत इस पृथिवीको हम उज्ज्वल-रूपमें पाते हैं, रातमें वह म्लान हो जाती है, इसीसे अगण्य ज्योतिष्कोंका आविर्भाव होता है।

हम एक ही समयमें सीमाको और असीमको, 'अहं'को और 'अखिल'को,

'विचित्र' को और 'एक' को सम्पूर्ण-रूपसे नहीं पा सकते ; इसीलिए एक बार दिन आकर हमारी आँखें खोल देता है और एक बार रात्रि आकर हमारे हृदयका द्वारा उद्घाटित कर देती है ; एक बार आलोक आकर हमें केन्द्रमें निविष्ट कर देता है और एक बार अन्धकार आकर हमें परिधिके साथ परिचित कराता रहता है ।

इसीलिए, रात्रि ही उत्सवका विशेष समय है । रात्रिके समय विश्वभुवन अन्धकार-रूप माके कक्षमें आकर एकत्र होता है । जिस अन्धकारसे जगत्-चराचरने जन्म लिया है, जिस अन्धकारसे आलोक-निर्झर निरन्तर निर्झरित हो रहा है, जहाँ विश्वका समस्त उद्योग नीरवतासे शक्ति संचय कर रहा है और सम्पूर्ण क्लान्ति सुप्ति-सुधामें निमग्न होकर नवजीवनके लिए प्रस्तुत हो रही है, जिस महान्धकारमेंसे एक-एक उज्ज्वल दिवस नील-समुद्रमेंसे एक-एक फेनिल तरङ्गकी तरह एक-एक बार आकाशमें उत्थित होकर फिर उसी समुद्रमें शयन करता रहता है, वह अन्धकार हमसे जो-कुछ गोपन करता है उसकी अपेक्षा बहुत अधिक प्रकाश करता है । वह न होता तो लोक-लोकान्तरकी वार्ता हमें नहीं मिलती, आलोक हमलोगोंको कारारुद्ध कर रखता ।

रजनीका यह अन्धकार प्रतिदिन एक-एक बार दिवालोकका स्वर्ण-सिंहद्वार उन्मुक्त करके हमलोगोंको विश्वब्रह्माण्डके अन्तःपुरमें पहुंचाता रहता है, और विश्व-जननीका एक अखण्ड नीलाञ्चल हम सबके ऊपर तान देता है । सन्तान जिस समय माताके आलिङ्गन-पाशमें सम्पूर्ण-रूपसे प्रच्छन्न रहकर बाहरका कुछ भी देखती-सुनती नहीं, तभी वह निविड़तर-रूपसे माताका अनुभव करती है, यह अनुभूति देखने-सुननेकी अपेक्षा बहुत अधिक ऐकान्तिक है । इसी तरह स्तब्ध अन्धकार जब हमारे देखने-सुननेको शान्त कर देता है, तभी हम सब एक शय्यापर निखिलको और निखिल-माताको अपने हृदयके पास अत्यन्त निविड़ताने अनुभव करते हैं । तब फिर हमारे अपने अभाव, अपनी शक्तियाँ, अपने काम-धन्धे बड़े हो-होकर हमारे चारों ओर ऊँची दीवारें नहीं खड़ी करते, हमारे आपसी भेदभाव हममेंसे प्रत्येकको खण्ड-खण्ड रूपमें पृथक-पृथक करके नहीं रखते, तब उस महान् नीरवतामें निखिलका निःश्वास हमारी देहसे

आकर लगता है, और नित्य-जाग्रत निखिल-जननीकी अनिमेष दृष्टि हमारे सिरहानेके पास प्रत्यक्षगम्य हो उठती है।

हमारा यह रजनीका उत्सव निभृत निगूढ़ है, किन्तु है विश्वव्यापी जननीके कक्षका उत्सव। इस समय हम कामकी बातें भूल जाते हैं, संग्रामकी बातें भूल जाते हैं, अपनी शक्ति-सामर्थ और अभिमानकी चर्चा भूल जाते हैं; हम सब मिलकर उनकी मुखच्छविके भिखारी बन जाते हैं। तब हममेंसे प्रत्येककी प्रार्थना होती है : "जननी, जब मुझे प्रयोजन था तब तुमसे मैंने अपनी भूख बुझानेको अन्न माँगा है, काम करनेको शक्ति माँगी है और पथ चलनेको पाथेय माँगा है; किन्तु अब तो मैं अपने समस्त प्रयोजनोंको बाहर फेंककर तुम्हारे कक्षमें आ गया हूं; अब एकान्त-रूपसे मैं तुम्हींको चाहता हूं। अब तुम्हारे आगे मैं हाथ नहीं फैलाऊंगा,—अब तो तुम मुझे अपना केवल स्पर्श मात्र दो, मुझे क्षमा करो, मुझे ग्रहण करो। तुम्हारे रजनी-समुद्रमें अवगाहन-स्नान करके विश्वजगत् कल जब उज्ज्वल वेषमें अपना निर्मल ललाट लिये प्रभात-आलोकमें उठके खड़ा हो, तब, ऐसा करो कि मैं भी उसके साथ समानतासे खड़ा हो सकूं; तब मेरे अन्दर किसी तरहकी ग्लानि न रह जाय, मेरी क्लान्ति दूर हो जाय; तब मैं हृदय-मनसे कह सकूं कि 'सबका कल्याण हो', कह सकूं कि सबमें जो हैं उन्हें मैं देख रहा हूं, अपना प्रसाद आज दिन-भर जो वे मुझे देंगे उसीका मैं भोग करूंगा, मैं किसी भी वस्तुपर लोभ नहीं करूंगा।"

प्रातःकाल जिन्होंने पिताके रूपमें हमें कर्मशालामें भेजा था, सन्ध्याकालमें वे ही माता होकर हमें अपने अन्तःपुरमें बुला लेते हैं। प्रातःकालमें उन्होंने हमें भार सौंपा था, सन्ध्याकालमें वे हमसे भार सम्हाल लेते हैं। प्रतिदिन यह जो दिन और रातमें दो विभिन्न अवस्थाओंमें हमारा जीवन आन्दोलित हो रहा है,—एक बार पिता हमें बाहर भेज रहे हैं और एक बार माता हमें अन्तःपुरमें खींच रही हैं,—एक बार हम अपनी ओर दौड़ते हैं और एक बार अखिलकी ओर लौटते हैं,—इसमें हमारे जीवन और मरणकी रहस्यच्छवि आलोक-अन्धकारकी तूलिकासे प्रतिदिन विचित्र होती रहती है।

हम अपने काव्यों और गीतोंमें 'आयु-अवसान'के साथ 'दिनान्त'की उपमा

दिया करते हैं ; किन्तु सब सयम हम उसके सम्पूर्ण भावको हृदयङ्गम नहीं करते, हम तो केवल 'अवसान'की ओर ही देखकर विषादके निःश्वास छोड़ा करते हैं, 'परिपूरण'की दिशा हम नहीं देखते। हम यह नहीं विचारते कि प्रतिदिन दिवसावसानमें इतना बड़ा जो एक विपरीत व्यापार चलता रहता है और हमारी शक्तिमें जो ऐसी एक विपर्यय-दशा उपस्थित होती रहती है, उससे तो कुछ भी विश्लिष्ट नहीं हो जाता, संसार-भरमें तो कोई हाहाकार-ध्वनि नहीं उठती। महाकाशके तले विश्व आरामकी ही साँस लेता है।

दिन हमारे जीवनकी प्रतिकृति है। दिनका आलोक जैसे अन्य समस्त लोकको आवृत करके हमारे कर्म-स्थान इस जगतको ही जाज्ज्वल्यमान कर देता है, हमारा जीवन भी वैसे ही हमारे चारों ओर एक वेष्टन बना लेता है, और इसीलिए हमारे जीवनके अन्तर्गत जो-कुछ है वही हमारे लिए इतना एकान्त हो जाता है कि सहसा हमें मालूम ही नहीं होता कि इससे बड़ा और भी कुछ है। दिनके समय भी तो आकाश-भरमें 'ज्योतिष्कलोक' विद्यमान रहता है, किन्तु दिखाई कहाँ देता है ? जो आलोक हमारे कर्मस्थानके भीतर जल रहा है वह आलोक ही बाहरके अन्य-समस्तको द्विगुण अन्धकारमय कर रखता है। इसी तरह हमारे इस जीवनको चारों ओरसे वेष्टित करके शत-सहस्र ज्योतिर्मय विचित्र रहस्य नाना आकारोंमें विद्यमान हैं, किन्तु हम उसे देख कहाँ पाते हैं ? जो चेतना, जो बुद्धि, जो इन्द्रिय-शक्ति हमारे जीवनके पथको उज्ज्वल करती है, वह ज्योति ही हमारे जीवनकी बहिःसीमाके सब-कुछको हमसे अगोचर रख देती है।

अपने जीवनमें जब कि हम ही मालिक हैं, संसार ही जब कि हमारे लिए सर्वप्रधान है और हमारे सुख-दुःख-चक्रकी परिधि जब कि हमारे आयुकालमें ही विशेष-रूपसे परिच्छिन्न सी प्रतिभात होती रहती है, ठीक उसी समय दिन डूब जाता है, जीवनका सूर्य अस्ताचलके अन्तरालमें जा छिपता है, मृत्यु हमलोगोंको अपने अञ्चलसे ढककर गोदमें उठा लेती है। तब वह जो अन्धकारका आवरण है वह क्या केवल शून्यता ही है ? हमारे लिए क्या उसमें एक सुगभीर और सुविपुल प्रकाश नहीं है ? और हमारे जीवनाकाशके अन्तरालमें जो असीमता

नित्यकाल विराज रही है, मृत्युके तिमिरपटपर वह क्या देखते-देखते हमारे चारों ओर आविष्कृत नहीं हो पड़ती ? और तब क्या सहसा अपने इस सीमा-विच्छिन्न जीवनको हम असंख्य जीवनलोकके साथ युक्त करके नहीं देख पाते ? दिनकी विच्छिन्न पृथिवीको सन्ध्या-आकाशमें जब हम समस्त ग्रहदलके साथ नक्षत्रमण्डलीमें संयुक्तरूपसे जान पाते हैं तब उस समस्तका जैसे एक छन्द, एक विराट तात्पर्य हमारे चित्तमें प्रसारित हो उठता है उसी तरह मृत्युके बाद विश्वके साथ योग-युक्त हमारे जीवनका विपुल तात्पर्य क्या हमारे आगे अति सहजमें ही प्रकाशित नहीं होता ? जीवित दशामें जिसे हम एकक रूपमें, पृथक रूपमें देखते हैं, मृत्युके बाद उसीको हम विराटके मध्य सम्पूर्ण करके देखनेका अवकाश पाते हैं। हमारे जीवनकी चेष्टाएँ, हमारा जीविकाका संग्राम जब रुक जाता है तब उस गभीर निस्तब्धतामें हम अपनेको असीममें ही प्रतिष्ठित देखते हैं, अपनी व्यक्तिगत सीमामें नहीं, अपनी संसारगत शक्तिमें नहीं।

इस तरह जीवनमेंसे मृत्युमें पदार्पण दिनमेंसे रात्रिमें संक्रमणके ही अनुरूप है। यह बाहरसे अन्तःपुरमें प्रवेश है, कर्मशालासे माताकी गोदमें आत्मसमर्पण है, पारस्परिक पार्थक्य और विरोधसे निखिलके साथ मिलनमें आत्मानुभूति है।

शक्ति अपनेको घोषित करती है, प्रेम अपनेको आवृत रखता है। शक्तिका क्षेत्र है आलोक, और प्रेमका क्षेत्र है अन्धकार। प्रेम अन्तरालमेंसे ही पालन करता है, लालन करता है और अन्धकारके बीच ही आकर्षित करता रहता है। विश्वका सम्पूर्ण भण्डार विश्वजननीके गोपन अन्तःपुरमें है। इसीसे हम कुछ भी नहीं जानते कि कहाँसे यह निःशेष-विहीन अनन्त प्राणोंकी धारा लोक-लोकमें प्रवाहित हो रही है, कहाँसे यह अनिर्वाण 'चेतनाका आलोक' जीव-जीवमें ज्वलित हो रहा है, कहाँसे यह नित्यसंजीवित धी-शक्ति चित्त-चित्तमें जाग्रत हो रही है। हम नहीं जानते कि इस पुरातन जगतकी क्लान्ति कहाँ दूर होती है। इस जीर्ण-जराके ललाटकी शिथिल वलिरेखाएँ कहाँ किस अमृत-करस्पर्शसे पुँछकर फिरसे उसे नवीनताका सौकुमार्य प्राप्त होता है, हम नहीं जानते। हम नहीं जानते कि कणके समान बीजमें विशाल वनस्पतिकी महाशक्ति कहाँ किस प्रकार प्रच्छन्न रहती है। जगतका यह जो आवरण है, इस आवरणमें जगत्का

सम्पूर्ण उद्योग अदृश्य रहकर काम कर रहा है और समस्त चेष्टाएँ विराम लेकर यथासमय नवीभूत हो उठती हैं, यह प्रेमका ही आवरण है। सुप्तिके भीतर यह प्रेम ही स्तम्भित है, मृत्युके मध्य यह प्रेम ही प्रगाढ़ है, अन्धकारके बीच यह प्रेम ही पुञ्जीकृत है, आलोकमें यह प्रेम ही चञ्चल शक्तिके पीछे रहकर अदृश्य है, जीवनमें यह प्रेम ही हमारे कर्तृत्वके अन्तरालमें रहकर प्रतिक्षण बल-प्रेरण और प्रतिक्षण क्षति-पूरण कर रहा है।

हे महातिमिरावगुण्ठिता रमणीया रजनी, तुम पक्षिमाताके विपुल पक्षपुटके समान हम शिशुओंको सुकोमल स्नेहाच्छादनसे आवृत करती-हुई अवतीर्ण होती हो, तुममें हम विश्वधात्रीका परम स्पर्श निविड़रूपसे, निगूढ़रूपसे अनुभव करना चाहते हैं। तुम्हारा अन्धकार हमारी क्लान्त इन्द्रियोंको आच्छन्न रखके हमारे हृदयको उद्घाटित कर दे, हमारी शक्तिको अभिभूत करके हमारे प्रेमको उद्बुद्ध कर दे, हमारे अपने कर्तृत्व-प्रयोगको खर्व करके माताके आलिङ्गन-पाशमें सम्पूर्णरूपसे अपनेको विलीन करनेके आनन्दको ही सबसे गरिष्ठ कर दे।

हे विराम-विभावरीकी ईश्वरी माता, हे अन्धकारकी अधिष्ठात्री देवी, हे सुप्तिमें जाग्रत और मृत्युमें विराजित माता, तुम्हारे नक्षत्र-दीपित अञ्चन-तले मैं तुम्हारे चरणोंकी छायाके नीचे लोट रहा हूँ। अब मैं और किसी प्रकारका भय नहीं करूँगा, केवल अपना भार तुम्हारे द्वारपर ही विसर्जित करूँगा ; अब मैं कोई चेष्टा नहीं करूँगा, केवल तुम्हारी इच्छामें ही अपनी इच्छाको विलीन करूँगा ; अब मैं कोई विचार नहीं करूंगा, केवल तुम्हारे उस आनन्दमें अपने प्रेमको निमग्न कर दूंगा जो—"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति।"

हे देवी, तुम्हारे महान्धकारके भीतर मैं स्पष्ट देख रहा हूं कि विश्व-भुवनका समस्त आलोकपुञ्ज केवल बिन्दु-ज्योति-रूपमें एकत्र सन्निविष्ट हो रहा है। दिनके प्रकाशमें संसारके छोटे-छोटे चाञ्चल्य और हमारे स्वकृत तुच्छ आन्दोलन हमारे सामने कैसे विपुल-विशाल रूपमें दिखाई दिया करते हैं! किन्तु आकाशके वे जो नक्षत्र हैं, जिनके उद्दाम वेगकी हम धारणा ही नहीं कर सकते, जिनके उच्छ्वसित आलोक-तरङ्गका आलोड़न हमारी कल्पनाको परास्त

कर देता है, किन्तु, हे माता, तुम्हारे भीतर तो उनका प्रचण्ड आन्दोलन कुछ भी नहीं है, तुम्हारे तिमिर-वसनाञ्चल-तले, तुम्हारी अवनत स्थिर दृष्टिके नीचे वे सब स्तन्य-पान-रत सुप्त शिशुओंके समान निश्चल हैं, निस्तब्ध हैं। तुम्हारी विराट गोदमें उनकी 'अस्थिरता' भी 'स्थिरता' बन गई है, उनका दुःसह तीव्र तेज माधुर्य-रूपमें प्रकाशमान है। यह सब देखकर इस रात्रिमें मेरा तुच्छ चाञ्चल्यका आस्फालन, मेरा क्षणिक तेजका अभिमान और मेरा क्षुद्र दुःखका पश्चात्ताप, कुछ भी तो बाकी नहीं रह जाता; तुममें ही मैं अपना सब-कुछ स्थिर करता हूँ, सब-कुछ आवृत करता हूँ, सब-कुछ शान्त करता हूँ, तुम मुझे ग्रहण करो, मेरी रक्षा करो,—"यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्।" मैं अब तुमसे शक्ति पानेकी प्रार्थना नहीं करता, मुझे प्रेम दो, अब मैं संसारमें जयी होना नहीं चाहता, तुम्हारे आगे प्रणत होना चाहता हूं। सुख-दुःखकी मैं अवज्ञा करना नहीं चाहता, सुख-दुःखको मैं तुम्हारे मंगल-हस्तका दान मानकर विनयके साथ ग्रहण करना चाहता हूं। मृत्यु जब मेरी कर्मशालाके द्वारपर खड़ी होकर नीरव संकेतसे मेरा आह्वान करेगी, तब, हे जननी, तुम ऐसा करो कि मैं उसका अनुसरण करके तुम्हारे अन्तःपुरके शान्ति-कक्षमें अपने निःशङ्क हृदयमें क्षमा लेकर पहुंचूं, प्रीति लेकर पहुंचूं, कल्याण लेकर पहुँचूं। विरोधका सम्पूर्ण दाह मेरा उस दिन सन्ध्यास्नानसे शान्त हो जाय और समस्त वासनाओंका पङ्क उस दिन बिलकुल धुल जाय। मैं अपनी सारी कुटिलताको सरल करके, समस्त विकृतिको संस्कृत करके तुम्हारे पास पहुंच सकूं। यदि ऐसा अवकाश न मिले, यदि मेरा क्षुद्र बल निःशेषित हो जाय, तो भी तुम्हारे विश्व-विधानपर सम्पूर्णतः निर्भर होकर मैं तब दिनसे रातमें, जीवनसे मृत्युमें और अपनी अक्षमतासे तुम्हारी करुणामें एकान्त-रूपसे आत्म-विसर्जन कर सकूँ। और इस बातको याद रखूं कि जीवनको तुम्हींने प्रिय बनाया था, मरणको तुम ही प्रिय कर दोगी; अपने दक्षिण हस्तसे तुम्हींने मुझे संसारमें भेजा था, अपने वाम हस्तसे तुम ही मुझे अपनी गोदमें उठा लोगी। तुम्हारे आलोकने ही मुझे शक्ति दी थी, तुम्हारा अन्धकार ही मुझे शान्ति देगा।

सं० १९६२]

मनुष्यत्व

"उत्तिष्ठत, जाग्रत !" 'उत्थान करो, जाग्रत होओ' —यह वाणी उद्घोषित हो चुकी है। हममेंसे किसने सुनी है, किसने नहीं सुनी, पता नहीं ; किन्तु 'उत्तिष्ठत, जाग्रत' !— यह वाक्य बार-बार हमारे द्वारपर उपस्थित हुआ है। संसारमें प्रत्येक बाधाने, प्रत्येक दुःखने, प्रत्येक विच्छेदने, शत-शत बार हमारी अन्तरात्माकी तन्त्रियोंमें आघात कर-करके जो उन्हें झंकृत किया है, उससे केवल एक ही वाणी झंकृत होती रही है, 'उत्तिष्ठत, जाग्रत !' 'उत्थान करो, जाग्रत होओ !' अश्रु-शिशिरधौत हमारे नव-जागरणके लिए निखिल अनिमेष नेत्रोंसे प्रतीक्षा कर रहा है कि कब वह प्रभात आयेगा और कब रात्रिका यह अन्धकार दूर होकर हमारे अपूर्व विकाशको निर्मल नवोदित अरुण-आलोकसे उद्घाटित कर देगा ! कब हमारी बहुत दिनोंकी वेदना सफल होगी, कब हमारी अश्रुधारा सार्थक होगी !

पुष्पको आज प्रभातमें कहना नहीं पड़ा कि 'रजनी गई, प्रभात हो गया, तुम आज प्रस्फुटित हो उठो।' वन-वनमें आज विचित्र पुष्पोंने अनायास ही विश्व-जगतके अन्तर्गूढ़ आनन्दको वर्ण-गन्ध-शोभासे विकशित करके अपने माधुर्यके द्वारा निखिलके साथ कमनीय-रूपसे अपना सम्बन्ध स्थापित किया है। इन पुष्पोंने अपनेको भी पीड़ित नहीं किया और अन्य किसीको भी आघात नहीं पहुँचाया, किसी भी अवस्थामें दुबिधाका लक्षण नहीं दिखाया, वे अपनी सहज-सार्थकतामें ही आद्योपान्त प्रफुल्ल हो उठे हैं।

यह देखकर मनमें यह पश्चात्ताप उत्पन्न होता है कि मेरा जीवन भी क्यों नहीं इसी तरह विश्वव्यापी आनन्द-किरण-पातसे, ऐसी ही स्वाभाविकतासे विकशित हो उठता ? वह अपनी समस्त पंखड़ियोंको संकुचित करके इस तरह अपने-आपको प्राणपणसे क्यों जकड़े-हुए है ? प्रभातमें तरुण सूर्य आकर अरुण करोंसे उसके द्वारपर आघात कर रहा है, कह रहा है, 'मैंने जैसे अपनी चम्पक-किरणोंको सम्पूर्ण आकाशमें फैला दिया है, तुम भी इसी तरह अपने सहज-स्वाभाविक आनन्दसे विश्वमें अपनेको अबाधित कर दो !' रजनी चुपकेसे दबे-पाँव आकर अपने स्निग्ध हाथोंसे उसे स्पर्श करती-हुई कहती है,

'मैंने जैसे अपने अतलस्पर्श अन्धकारमेंसे अपनी समस्त ज्योतिःसम्पदा उन्मुक्त कर दी है, तुम भी इसी तरह एक बार अन्तरात्माके गभीर-तलका द्वार चुपकेसे खोल दो, आत्माका प्रच्छन्न राज-भण्डार एक क्षणमें विस्मित विश्वके सामने रख दो।' निखिल जगत् प्रतिक्षण ही अपने विचित्र स्पर्शके द्वारा हमसे यही बात कह रहा है कि 'अपनेको विकशित करो, अपनेको समर्पण करो, अपने जागतिक स्वार्थकी तरफसे मुँह मोड़कर एक बार सबकी ओर लौटो, इस जल-स्थल-आकाशमें, इस सुख-दुःखपूर्ण विचित्र संसारमें अनिर्वचनीय ब्रह्मके प्रति अपनेको एक बार सम्पूर्ण उन्मुख कर दो।'

किन्तु वाधाओंका अन्त नहीं; प्रभातके फूलकी तरह इतने सहजमें, इतने परिपूर्ण-रूपसे हम अपनेको उत्सर्ग नहीं कर सकते। अपनेको हम अपने भीतर ही छिपाये रहते हैं, और इस तरह हमारे चारों ओर निखिलका आनन्द अभ्युदय व्यर्थ होता रहता है।

कौन कह सकता है कि व्यर्थ होता रहता है ? प्रत्येक मनुष्यमें जो अनन्त जीवन विद्यमान है उसकी सफलताको कौन नाप-तौल सकता है ? पुष्पोंके समान हमारी सम्पूर्णता क्षणकालीन नहीं है। नदी जैसे अपनेको बहु-दीर्घ तटोंके धारावाहिक वैचित्र्यमेंसे न-जाने कितने पर्वत-प्रान्तर-मरु-कानन-नगर-ग्रामोंको तरङ्गाहत करती-हुई अपनी सुदीर्घ यात्राके विपुल सञ्चयको प्रतिक्षण निःशेष-रूपसे महासमुद्रको उत्सर्ग करती रहती है, कभी भी उसका अन्त नहीं होने देती, उसकी अविश्राम प्रवाह-धाराका भी अन्त नहीं होता और उसके चरम विरामकी भी सीमा नहीं रहती, मनुष्यत्वको भी ठीक इसी प्रकारसे वैचित्र्यमेंसे विपुलताके साथ महत्-सार्थकता प्राप्त करनी होती है। उसकी सफलता सहज नहीं है। नदीकी तरह ही वह प्रत्येक पदक्षेपके लिए अपना मार्ग अपने बलसे, अपने वेगसे रचता-हुआ चलता है। कहीं तट बनाकर तो कहीं तट तोड़कर, कहीं विभक्त होकर तो कहीं संयुक्त होकर, नई-नई वाधाओं द्वारा आवर्तवेगसे घूमता-हुआ वह अपनी महान रूपमें सृष्टि करता रहता है, और अन्तमें जब वह अपने सीमाविहीन परिणामपर पहुँचता है, तब, विचित्रको अतिक्रम कर आनेके कारण ही, महान एकके साथ उसका मिलन सम्पूर्ण होता

है। बाधाएँ यदि न होतीं, तो वह महान नहीं हो सकता था, और महान हुए बिना विराटमें उसका विकाश परिपूर्ण नहीं होता।

दुःख है ; संसारमें दुःखका अन्त नहीं। उस दुःखके आघातोंसे, उस दुःखके वेगसे संसारमें विराट-रूपमें गठन-विघटन चल रहा है ; इससे अहोरात्र जो तरंगें उठ रही हैं उनकी न-जाने कितनी ध्वनियाँ हैं, कितने वर्ण हैं और कितनी गति-भङ्गिमाएँ हैं ! मनुष्य यदि क्षुद्र होता और क्षुद्रतामें ही उसका अन्त होता, तो दुःखके बराबर असङ्गत बात और-कुछ भी नहीं हो सकती थी। इतना दुःख क्षुद्रके लिए नहीं होता। महानका ही गौरव है दुःख। विश्व-संसारमें मनुष्यत्व ही उस दुःखकी महिमासे महीयान् है, अश्रुजलसे ही उसका राज्याभिषेक हुआ है। पुष्पके दुःख नहीं है, पशु-पक्षीके दुःखकी सीमा संकीर्ण है। मनुष्यका दुःख विचित्र है, गभीर है, बहुधा वह अनिर्वचनीय है। इस संसारमें उसकी वेदनाकी सीमा मानो सम्पूर्ण-रूपसे मिलती ही नहीं।

यह दुःख ही मनुष्यको महान् बनाता है, मनुष्यको वह अपनी महानताके विषयमें जाग्रत-सचेतन कर देता है, और यह महानता ही मनुष्यको आनन्दका अधिकारी बना देता है। कारण, 'भूमैव सुखं, नाल्पे सुखमस्ति', अल्पमें हमें आनन्द नहीं। जिसमें हमारी खर्वता है, जिसमें हमारी स्वल्पता है, वह बहुधा हमारे लिए आरामकी वस्तु हो सकती है ; किन्तु वह आनन्ददायक हरगिज नहीं हो सकती। जिसे हम अपने पौरुषसे नहीं पाते, वीर्यबलसे नहीं पाते, अश्रुसे नहीं पाते, जो अनायासका है, उसे हम सम्पूर्णरूपसे नहीं पाते। जिसे हम दुःखके भीतरसे कठिनतासे पाते हैं, हृदय उसीको निविड़तासे और समग्र रूपसे पाता है। मनुष्यत्व हमारा परमदुःखका धन है, उसे वीर्यबलसे ही प्राप्त किया जाता है। प्रतिदिन पद-पदपर वाधाएँ अतिक्रम करते-हुए यदि उसे न प्राप्त किया जाता, तो उसे पाकर भी हम नहीं पाते ; यदि वह सुलभ होता, तो हमारा हृदय उसे सर्वतोभावसे ग्रहण नहीं करता। सच तो यह है कि मनुष्यत्व दुःखके द्वारा दुर्लभ है, मृत्यु-शङ्काके द्वारा दुर्लभ है, भय-विपत्तियोंके द्वारा दुर्लभ है और नानाभिमुखी प्रवृत्तियोंके द्वारा दुर्लभ है। इस दुर्लभ मनुष्यत्यको अर्जन करनेकी प्रचेष्टामें आत्मा अपनी सम्पूर्ण शक्तिका अनुभव

करती रहती है। उस अनुभूतिमें ही उसका यथार्थ आनन्द है; और इसीमें उसका यथार्थ आत्मपरिचय है। इसीसे वह जान पाता है कि दुःखके ऊपर उसका मस्तक है, मृत्युके ऊपर उसकी प्रतिष्ठा है। इस तरह संसारके विचित्र अभिघातोंसे, दुःख-बाधाओंके साथ निरन्तर संग्रामसे जिस आत्माकी सम्पूर्ण शक्ति जाग्रत है और सम्पूर्ण तेज उद्दीप्त है, वही आत्मा ब्रह्मको यथार्थ-रूपसे प्राप्त करनेमें उद्यमी हो सकती है। क्षुद्र आराममें और भोग-विलासमें जो आत्मा जड़त्वसे जकड़ी-हुई है, ब्रह्मका आनन्द उसके लिए नहीं है। इसीलिए उपनिषद्ने कहा है, "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।" यह आत्मा (चाहे जीवात्मा कहो या परमात्मा) बलहीनके द्वारा लभ्य नहीं है। समग्र शक्तिको सम्पूर्णरूपसे प्रयोग करनेके जितने ही उपलक्ष्य घटित होते हैं, आत्माको प्राप्त करनेके उतने ही उपाय प्राप्त होते हैं।

इसीलिए पुष्पके लिए पुष्पत्व जितना सहज है, मनुष्यके लिए मनुष्यत्व उतना सहज नहीं है। मनुष्यको मनुष्यत्वमेंसे जो प्राप्त करना है वह निद्रित अवस्थामें पानेकी वस्तु नहीं है। इसीलिए, संसारके समस्त कठिन आघात हमसे यही बात कह रहे हैं, "उत्तिष्ठत! जाग्रत! प्राप्य वरान् निरोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।"–'उठो, जागो! यथार्थ गुरुको प्राप्त करके बोध लाभ करो। वह पथ शाणित क्षुरधारके समान दुर्गम है, ऐसा कवियोंने कहा है।'

इसलिए, प्रभातमें जब कि वन-उपवनोंमें पुष्प-पल्लवोंमें उनकी क्षुद्र सम्पूर्णता, उनकी सहज शोभा परिपूर्णरूपसे विकशित हो उठी हो, तब मनुष्य क्या अपने दुर्गम पथ, अपने दुःसह दुःख और अपनी वृहत् असमाप्तिके गौरवसे महत्तर और विचित्रतर आनन्दका गीत नहीं गायेगा? जिस प्रभातमें तरु-लताओंमें केवल पुष्पोंका विकाश और पल्लवोंका हिल्लोल, पक्षियोंका गान और छायालोकका स्पन्दन है, उस शिशिर-धौत ज्योतिर्मय प्रभातमें मनुष्यके सामने संसार है, उसका संग्रामक्षेत्र है, उस रमणीय प्रभातमें मनुष्यको ही बद्धपरिकर होकर अपनी प्रतिदिनकी दुरूह विजय-चेष्टाके पथपर धावित होना पड़ेगा, क्लेशको वरण कर लेना होगा, सुख-दुःखके उत्ताल तरङ्गोंके ऊपरसे उसे अपनी

तरणी बहा ले जानी होगी ; कारण मनुष्य महत् है, कारण मनुष्यत्व सुकठिन है, और मनुष्यके उस पथको 'दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति' ।

किन्तु, संसारके भीतर ही यदि हम 'संसारका अन्त' देखेंगे, तो दुःख-कष्टोंका परिमाण अत्यन्त उत्कट हो उठेगा, उसका सामंजस्य जाता रहेगा । तब फिर इस विषम भारको कौन वहन करेगा ? और क्यों वहन करेगा ? किन्तु, जैसे नदीके एक तरफ परम-विराम समुद्र है और दूसरी ओर सुदीर्घ-तट-निरुद्ध अविराम-युद्धमान जलधारा है, उसी तरह हमारे भी यदि एक ही समयमें एक ओर ब्रह्ममें विश्राम और दूसरी ओर संसारमें अविश्राम गतिवेग न रहे, तो हमारी इस गतिका कोई तात्पर्य ही न रहे । फिर तो हमारी यह प्राणपण चेष्टा एक अद्भुत उन्मत्तता हो जायगी । ब्रह्ममें ही हमारे संसारका परिणाम है, उसीमें हमारे कर्मकी गति है । शास्त्रोंका कहना है कि ब्रह्मनिष्ठ गृहस्थ "यद्यत् कर्म प्रकुर्वीत तद् ब्रह्मणि समर्पयेत् ।" ब्रह्मनिष्ठ गृहस्थ जो-जो कर्म करें उन्हें ब्रह्मको समर्पण कर दें । इसमें एक ही कालमें कर्म और विराम, चेष्टा और शान्ति, दुःख और आनन्द है । इसमें एक ओर हमारी आत्माका कर्तृत्व रहता है और दूसरी ओर जहाँ उस कर्तृत्वका निःशेष-रूपसे विलय है वहाँ उस कर्तृत्वको प्रतिक्षण विसर्जित कर हम प्रेमका अनन्द पाते हैं ।

प्रेम तो कुछ बिना दिये जी नहीं सकता । हमारा कर्म, हमारा कर्तृत्व यदि बिलकुल हमारा न होता, तो, ब्रह्ममें हम विसर्जन देते ही क्या ? तब फिर हमारी भक्ति अपनी सार्थकताको कैसे प्राप्त करती ? संसारमें ही हमारा कर्म है, हमारा कर्तृत्व है,–वही हमारे पास देनेकी वस्तु है । हमारे प्रेमकी चरम सार्थकता तभी होगी जब हम अपना सम्पूर्ण कर्म, सम्पूर्ण कर्तृत्व आनन्द के साथ ब्रह्मको समर्पण कर सकेंगे । नहीं तो कर्म हमारे लिए निरर्थक भार और कर्तृत्व वस्तुतः संसारका दासत्व हो उठेगा । पतिव्रता स्त्रीके लिए उसके पतिके घरका कर्म ही गौरवकी और आनन्दकी वस्तु है । वह कर्म उसके लिए बन्धन नहीं, पति-प्रेममें ही उसके विचित्र कर्मोंका अखण्ड ऐक्य है और उसके नाना दुःखोंका एक आनन्द-अवसान है । ब्रह्मके संसारमें जब हम ब्रह्मका कर्म करते रहेंगे और उन सब कर्मोंको ब्रह्मको देते रहेंगे, तब हमारा वह कर्म और

मुक्ति दोनों एक ही बात हो जायगी ; तब एक ब्रह्ममें हमारे समस्त कर्मोंका वैचित्र्य विलीन हो जायगा और हमारे समस्त दुःखोंकी झंकार एक आनन्द-संगीतमें परिपूर्ण हो उठेगी।

प्रेम जो दान करता है, वह दान जितना ही कठिन होता है उतना ही उसकी सार्थकताका आनन्द निविड़ हो जाता है। सन्तानके प्रति जननीका स्नेह दुःखके द्वारा ही सम्पूर्ण है। प्रीति मात्र ही कष्टके द्वारा ही अपनेको समग्र-रूपसे प्रमाणित करके कृतार्थ होती है। ब्रह्मके प्रति जब हमारी प्रीति जाग्रत होगी तब हमारा संसार-धर्म दुःख-क्लेशके द्वारा ही सार्थक होगा, वह दुःख हमारे प्रेमको ही प्रतिदिन उज्ज्वल करेगा, अलंकृत करेगा। ब्रह्मके प्रति हमारे आत्मोत्सर्गको हमारा यह दुःखका मूल्य ही मूल्यवान कर देगा।

हे प्राणोंके प्राण, चक्षुके चक्षु, श्रोत्रके श्रोत्र, मनके मन, मेरी दृष्टि, मेरा श्रवण, मेरी चिन्ता, मेरे समस्त कार्य, तुम्हारी ओर ही अहोरात्र चल रहे हैं, इस बातको मैं जानता नहीं, इसलिए, ये मेरे इच्छाकृत न होनेसे, मैं दुःख पाता हूँ। मैं सब-कुछको अन्धेकी तरह बलपूर्वक अपना कहना चाहता हूं ; किन्तु बलकी रक्षा होती नहीं, और मेरा भी कुछ रहता नहीं। निखिलकी ओरसे, तुम्हारी ओरसे सब-कुछको अपनी ओर खींच-खींचकर रखनेकी निष्फल चेष्टासे मैं प्रतिदिन पीड़ित होता रहता हूँ। आज मैं और कुछ नहीं चाहता, आज मैं पानेकी प्रर्थना नहीं करूँगा ; आज मैं देना चाहता हूँ, देनेकी शक्ति चाहता हूँ। तुम्हारे आगे मैं अपनेको परिपूर्ण-रूपसे रिक्त कर दूंगा ; रिक्त करके अपनेको मैं परिपूर्ण करूंगा। तुम्हारे संसारमें कर्मके द्वारा तुम्हारी जो मैं सेवा करूँगा वह निरन्तर होकर मेरे प्रेमको जाग्रत और निष्ठावान बनाये रखे, तुम्हारे अमृत-समुद्रमें अतलस्पर्श जो विश्राम है वह भी मुझे अवसानहीन शान्ति दान करता रहे। तुम दिनपर दिन स्तर-स्तरमें मुझे शतदल कमलके समान विश्व-जगत्में विकशित करके अपनी पूजाके अर्घ्यके रूपमें मुझे ग्रहण करो।

बंगला-रचना : वि०सं०१९६२

प्रार्थना

प्रायः सभी जानते हैं, एक कहानी है कि एक बार देवताने एक व्यक्तिको एकसाथ तीन 'वर' देने चाहे थे। किन्तु, ऐसा बड़ा स्वर्ण-सुयोग पाकर वह अभागा इस सोचमें विह्वल हो गया कि वह माँगे तो क्या माँगे ; और अन्तमें उद्भ्रान्त चित्तसे उसने जो तीन प्रार्थनाएँ कीं, वे इतनी अकिंचित्कर थीं कि उसके बाद फिर उसे जीवन-भर पश्चात्ताप करते-करते दिन काटने पड़े। इस कहानीका तात्पर्य यह है कि हम समझते हैं कि संसारमें, हम और कुछ जानें या न जानें, हमारी इच्छा ही हमारे लिए सबसे अधिक सुस्पष्ट है और वही सर्वाधिक जाज्ज्वल्यमान है। किन्तु यह निरा भ्रम है। वास्तवमें, यथार्थ इच्छा ही हमारे अगोचर है।

अगोचर रहनेका एक कारण है, और वह यह कि उस इच्छाने ही नाना अनुकूल और प्रतिकूल अवस्थाओंके भीतरसे हमको गढ़नेका भार ले रखा है। जो विराट इच्छा समस्त मनुष्योंको मनुष्य बनानेके लिए उद्योगी है, असलमें वह इच्छा ही हमारे अन्तःकरणमें रहकर अपना काम करती रहती है। वह इच्छा तब तक छिपकर काम करती है जब तक कि हम अपनेको सर्वांशमें उसके अनुकूल नहीं कर पाते। उसपर हस्तक्षेप करनेका अधिकार हमें प्राप्त नहीं होता, और इसीलिए वह हमें पकड़ाई नहीं देती।

मनुष्यकी सबसे बढ़कर सच्ची इच्छा, नित्य इच्छा कौनसी है ? जो इच्छा उसकी सार्थकताकी साधनामें रत है वही। मेरी सार्थकता मेरे लिए जब तक रहस्य है, मेरी वह इच्छा भी तब तक मुझसे गुप्त है। 'किस चीजसे मेरा पेट भरेगा या किस बातसे मेरा नाम होगा', यह बताना कोई कठिन बात नहीं ; किन्तु, 'किससे मैं सम्पूर्ण होऊंगा', इस बातको संसारमें कितने मनुष्य जान पाये हैं ? 'मैं कौन हूं, मेरे भीतर जो एक प्रकाश-चेष्टा चल रही है उसका परिणाम क्या है, उसकी गति किस ओर है', इस बातको स्पष्ट-रूपसे कौन जानता है ? अतएव, देवता यदि वर देने आवें, तो सहसा हम देखेंगे कि उनसे अभीष्ट प्रार्थनाके लिए भी हम तैयार नहीं हैं। और तब हमें उनसे

यही बात कहनी पड़ेगी कि 'मेरी यथार्थ प्रार्थना क्या है, उसे जाननेके लिए मुझे सुदीर्घ समय दीजिये।' अन्यथा, अकस्मात् शीघ्रतामें यदि कुछका कुछ माँग बैठा, तो बुरी तरह ठगाया जाऊँगा।

वस्तुतः हमलोगोंने वही समय लिया है ; और हमारा जीवन इसी काममें लगा हुआ है। हम 'क्या प्रार्थना करें', इसी बातकी अहोरात्र परख कर रहे हैं। आज कहते हैं कि खेल चाहिए, कल कहते हैं कि धन चाहिए, परसों कहते हैं कि मान चाहिए ; और इस तरह संसारका हम अविश्राम मन्थन कर रहे हैं, उसे आलोड़ित कर रहे हैं। क्यों, किसलिए ? यथार्थमें 'हम क्या चाहते हैं' इस बातका पता लगानेके लिए। हम समझते हैं कि रुपया ढूँढ़ रहे हैं, बन्धु ढूँढ़ रहे हैं, सम्मान ढूँढ़ रहे हैं ; किन्तु असलमें और-कुछ नहीं, 'किस चीजको ढूँढ़ रहे हैं' इसका पता लगानेके लिए ही चारों तरफ खोज करते फिरते हैं, हमारी प्रार्थना क्या है, यही हमें नहीं मालूम।

जिन्होंने अपनी अन्तरात्माकी प्रार्थनाका सन्धान पा लिया है वे कहते हैं कि हमारी एकमात्र प्रार्थना है, और वह है—

"असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय।
आविरावीर्म एधि। रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं, तेन मां पाहि नित्यम्।"

'असत्यसे मुझे सत्यमें ले जाओ, अन्धकारसे मुझे ज्योतिमें ले जाओ, मृत्युसे मुझे अमृतमें ले जाओ। हे स्वप्रकाश, मेरे निकट प्रकाशित होओ। रुद्र, तुम्हारा जो प्रसन्न मुख है उसके द्वारा तुम मेरी सदाकाल रक्षा करो।'

किन्तु केवल कानोंसे सुननेसे कोई फल नहीं, और मुखसे उच्चारण करते रहना तो और भी वृथा है। जब हम सत्यको, आलोकको, अमृतको यथार्थमें चाहेंगे और अपने सम्पूर्ण जीवनसे उसका परिचय देंगे, तभी यह प्रार्थना सार्थक होगी। जिस प्रार्थनाको हम स्वयं अपने मनमें प्राप्त नहीं कर सकते उसके पूर्ण होनेका कोई मार्ग ही हमारे सामने नहीं हो सकता। अतएव, मान लो, हमने सब-कुछ सुन लिया और मन्त्र भी हमारे कर्ण-गोचर हो गया, किन्तु फिर भी प्रार्थना करनेके पूर्व अपनी उस प्रार्थनाको हमें अपने सम्पूर्ण जीवनसे सन्धान करके पाना होगा। वनस्पति हो उठनेकी एकमात्र प्रार्थना बीजके शस्यांशमें संहत

और निगूढ़-रूपसे निहित है, किन्तु जब तक वह अङ्कुरित होकर आकाश और आलोकमें अपना मस्तक नहीं उठाता तब तक उसे न रहनेके समान ही पड़ा हुआ समझना चाहिए। सत्यकी आकांक्षा, अमृतकी आकांक्षा हमारी समस्त आकांक्षाओंके अन्तर्निहित हैं, किन्तु हम उसे तब तक जान नहीं सकते जब तक कि वह हमारे सम्पूर्ण धूलि-स्तरको विदीर्ण करके मुक्त आकाशमें अपने कोंपल नहीं फैला देता।

हमारी यह 'यथार्थ प्रार्थना' क्या है, हम यथार्थमें क्या चाहते हैं, इस बातको कभी-कभी हमें अन्योंके भीतरसे जानना पड़ता है। हमें अपनी इस अन्तर्निगूढ़ इच्छाको जाननेमें संसारके महापुरुषगण हमारी सहायता करते रहते हैं। हम चिरकालसे ऐसा समझते आ रहे हैं कि हम शायद पेट भरना ही चाहते हैं, आराम करना ही चाहते हैं, किन्तु जब हम यह देखते हैं कि कोई-कोई मनुष्य धन-मान-आरामकी उपेक्षा करके सत्य आलोक और अमृतके लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर रहे हैं, तब बड़ी मुश्किलसे सहसा किसी तरह यह बात हमारी समझमें आ जाती है कि 'मेरी अन्तरात्मामें जो इच्छा मेरे अगोचरमें काम कर रही है उसीकी उन्होंने अपने जीवनमें उपलब्धि की है।' अपनी इच्छाको जब हम उनमें प्रत्यक्ष प्रकट देखते हैं, तब हम कमसे कम क्षण-भरके लिए भी इतना जान जाते हैं कि 'किसके प्रति मेरी यथार्थ भक्ति है, और क्या मेरी अन्तरात्माकी आकांक्षा है।'

तब और भी एक बात समझमें आती है। वह यह कि हम समझने लगते हैं कि जो इच्छाएँ प्रतिक्षण हमारे सुगोचर हैं, जो बराबर हमें ताड़ित करती रहती हैं, वे ही हममेंसे प्रत्येककी अन्तरतम इच्छाको, प्रत्येककी सार्थकता प्राप्त करनेकी प्रार्थनाको वाधा पहुँचा रही हैं, वे आत्मामें स्फूर्ति नहीं आने देतीं, आत्माकी यथार्थ प्रार्थनाको वे हमारी चेतनाके अन्तरालमें छिपाये रखती हैं, हमारी चेष्टाओंपर वे ऐसी छाई रहती हैं कि आत्माकी यथार्थ प्रार्थना उनसे बहुत दूरकी दूर ही रह जाती है।

और, जिनकी बात हम यहाँ कह रहे हैं उनकी बात ठीक इससे विपरीत है। जो मंगल-इच्छा, जो सार्थकताकी इच्छा विश्व-मानवकी मज्जा-स्वरूप है,

जो मानव-समाजके भीतर सदा-सर्वदा ही अकथित वाणीमें यह मन्त्र गा रही हैं, 'असतो मा सद्‌गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय', यह इच्छा ही उनके समक्ष सर्वापेक्षा प्रत्यक्ष है, अन्य सब इच्छाएँ छायाकी भाँति उसकी पश्चाद्वर्ती हैं, पदतलगत हैं। वे जानते हैं कि मानवात्माको सत्य, आलोक और अमृत ही चाहिए, मनुष्यके लिए यही अत्यावश्यक है, इसके बिना सब व्यर्थ है। अन्न-वस्त्र और धन-मानको वे क्षणिक और आंशिक प्रयोजन-रूप ही समझते हैं। विश्व-मानवके अन्तर्निहित यह इच्छा-शक्ति उनके भीतरसे जगत्‌में प्रत्यक्ष रूप लेती है और अपनेको प्रमाणित करती है, इसीलिए मानव-समाज उन्हें अपने चिरस्थायी सम्पद्‌के रूपमें ग्रहण कर लेता है। और, हम सब खाते-पहनते हैं, रुपया कमाते हैं, नाम कमाते हैं, मरते हैं और जलके भस्म हो जाते हैं। मानवकी चिरन्तन सत्यार्थ इच्छाको हम जिस जीवनमें प्रतिफलित नहीं कर सकते, मानव-समाजमें उस जीवनका क्षणिक मूल्य क्षण-कालमें ही निःशेष हो जाता है।

किन्तु यहाँ महापुरुषोंके दृष्टान्तसे एक भ्रम हो सकता है। हम ऐसा समझ सकते हैं कि क्षमतासाध्य और प्रतिभासाध्य कार्यके द्वारा ही शायद मनुष्य सत्य आलोक और अमृत-अनुसन्धानका परिचय देता है। किन्तु ऐसा कदापि नहीं होता। ऐसा यदि होता, तो संसारके अधिकांश लोग अमृतकी आशा तक नहीं कर सकते थे। जो साधारण बुद्धिबल-बाहुबलके लिए दुःसाध्य है उसीके लिए प्रतिभा या असाधारण शारीरिक शक्तिकी आवश्यकता है, किन्तु सत्यको अवलम्बन करना, आलोकको ग्रहण करना, अमृतको वरण कर लेना – यह तो केवल एकान्त-रूपसे यथार्थ-रूपसे इच्छाका ही धर्म है। यह और-कुछ नहीं, जो अपने पास ही है उसीको पाना है।

हमें यह स्मरण रखना है कि हमें जो-कुछ मिलना है वह हमारी प्रार्थनाके पहले ही हमें दिया जा चुका है। हम अपने यथार्थ ईप्सित धनके द्वारा परि-वेष्टित हैं। बाकी है केवल लेनेकी चेष्टा; और वही हमारी यथार्थ प्रार्थना है।

ईश्वरने यहीं हमारे गौरवकी रक्षा की है। उन्हींने सब-कुछ दिया है, किन्तु इतना कहनेको हमारी बात रख दी कि हमने ही लिया है। यह लेना

ही सफलता है, यही लाभ है। पाना सब समय लाभ नहीं होता, अधिकांश स्थलोंमें ही वह पाना 'न-पाना' ही रह जाता है, और अवशिष्ट स्थलोंमें वह एक असह्य बोझ बन जाता है। आर्थिक और पारमार्थिक सभी विषयोंमें यह बात लागू होती है।

ऋषि कहते हैं, "आविराविर्म एधि।" 'हे स्वप्रकाश, तुम मेरी आत्मामें प्रकाशित होओ।'

तुम तो स्वप्रकाश हो, अपने-आप ही प्रकाशित हो। अब मेरे निकट प्रकाशित होओ, यही मेरी प्रार्थना है। तुम्हारे लिए प्रकाशका अभाव नहीं है, मेरे लिए उस प्रकाशकी उपलब्धिका सुयोग बाकी है। जब तक मैं तुम्हें नहीं देखूंगा तब तक तुम परिपूर्ण-प्रकाश होनेपर भी मेरी दृष्टिमें दिखाई नहीं दोगे। सूर्य तो अपने प्रकाशसे आप प्रकाशित हो ही रहे हैं, अब मेरी ओरसे केवल आँख खोलनेकी, जाग्रत होनेकी देर है। जब हमारी आँख खोलनेकी इच्छा होती है तब हम आँख खोलते हैं, तब सूर्य हमें नई कोई चीज नहीं देते, उन्होंने तो अपने-आपको दान कर ही रखा है; और इस बातको हम क्षण-भरमें समझ जाते हैं। अतएव, अब हम समझ सकते हैं कि हम क्या चाहते हैं, इस बातको यथार्थ-रूपसे जानना ही हमारी प्रार्थनाका आरम्भ है। जब यह जान जाते हैं तब फिर सिद्धिमें अधिक विलम्ब नहीं रह जाता, तब दूर जानेकी आवश्यकता नहीं रहती। तब हम समझ सकते हैं कि समस्त मानव-समाजकी नित्य आकांक्षा मेरे भीतर जाग्रत हुई है; और यह सुमहान आकांक्षा ही अपनेमें अपनी सफलताको अति सुन्दर-रूपसे अति सहज-रूपसे वहन कर लाती है।

हमें अपनी छोटी-बड़ी समस्त इच्छाओंका मानवकी इस बड़ी इच्छासे, मानवकी इस मर्मगत प्रार्थनासे मिलान करके परीक्षण करना होगा, और यह बात निश्चित-रूपसे समझनी होगी कि हमारी जो भी कोई इच्छा इस सत्य-आलोक-अमृतकी इच्छाको अतिक्रम कर जाती है वही हमें खर्व करती है, क्षुद्र बनाती है; और वह केवल एक मुझे ही नहीं किन्तु समस्त मानव-समाजको पीछेकी ओर खींचती रहती है।

यह बात केवल हमारे खाने-पहनने और धन-मान अर्जनके विषयमें ही लागू होती हो सो बात नहीं, बल्कि हमारी बड़ी-बड़ी चेष्टाओंके सम्बन्धमें यह और भी अधिकतासे लागू होती है। जैसे, मान लो, देश-हितैषिता। यह प्रवृत्ति यद्यपि हमें स्वार्थत्याग और दुष्कर तपःसाधनकी ओर ले जाती है, फिर भी यह मानवताके लिए भारी अन्तराय-स्वरूप हो सकती है। इसका प्रमाण हमारे सामने ही है, हमारे पास ही है। युरोपीय राष्ट्रोंने इसीको अपना चरम लक्ष्य और परम धर्म मान लिया है। किन्तु यह प्रतिदिन ही सत्यको आलोकको अमृतको युरोपीय दृष्टिसे ओझल करता चला जा रहा है। युरोपकी स्वदेश-आसक्ति ही मानवत्व-लाभकी इच्छाको प्रबल वेगसे प्रतिहत कर रही है, और युरोपीय सभ्यता आज अधिकांश पृथिवीके लिए एक प्रचण्ड विभीषिका होती जा रही है। युरोप बराबर मिट्टी चाह रहा है, जमीन चाह रहा है, सोना चाह रहा है, प्रभुत्व चाह रहा है; और ऐसी लोलुपतासे, ऐसी भीषणतासे चाह रहा है कि सत्य, आलोक और अमृतके लिए मानवकी जो चिरन्तन प्रार्थना है वह युरोपकी दृष्टिसे उत्तरोत्तर प्रच्छन्न होकर, ओझल होकर, उसे उद्दाम किये दे रही है। यही विनाशका पथ है,—पथ नहीं, यही मृत्यु है।

हमारे सामने, हमारे अन्यन्त निकटमें युरोपका यह दृष्टान्त हमें प्रतिदिन मोहाभिभूत किये दे रहा है। किन्तु भारतवर्षको यही एक बात याद रखनी होगी कि सत्य-आलोक-अमृत ही प्रार्थनाकी वस्तु है। विषयानुराग हो चाहे देशानुराग, अपने उद्देश्य-साधनके उपाय-स्वरूप जहाँ भी वह सत्य, आलोक और अमृतको अतिक्रम करना चाहेगा वहीं उसे अभिशाप देते-हुए कहना होगा—'विनिपात'! कहना कठिन है, प्रलोभन प्रबल है, क्षमताके मोहको अतिक्रम करना दुःसाध्य है, फिर भी, भारतवर्षने यही बात सुस्पष्टतासे कही है—

"अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति॥"

बंगला-रचना : वि०सं०१९६१
हिन्दी-अनुवाद : वैशाख २०११

—

धर्म-प्रचार

'आओ चलो, हम फल प्राप्त करें'– कहकर सहसा उत्साहके साथ उसी क्षण घरसे बाहर निकल पड़ना ही फल प्राप्त करनेका उपाय है, ऐसी बात कोई नहीं कहेगा। कारण, केवल सदिच्छा और सदुत्साहके बलपर ही फलकी सृष्टि नहीं की जा सकती। बीजसे वृक्ष और वृक्षसे फल उत्पन्न होता है। दलबद्ध उत्साहके द्वारा भी इस नियमके विरुद्ध कुछ नहीं किया जा सकता। बीज और वृक्षसे सम्पर्क न रखकर यदि हम अन्य किसी उपायसे फल पानेकी आकांक्षा करें, तो वह मनगढ़न्त कृत्रिम फल खेलके लिए या घर सजानेके लिए अच्छा हो सकता है, किन्तु हमारी यथार्थ क्षुधा मिटानेके लिए वह नितान्त अनुपयोगी होगा।

हमारे देशमें, आधुनिक धर्म-समाजमें, यह बात सोची ही नहीं जाती। हम समझते हैं कि दल बनानेसे ही फल प्राप्त हो सकता है। और अन्तमें समझ लेते हैं कि 'दल बना लेना' ही 'फल' है। क्षण-क्षणमें हमारे भीतरसे उत्साह जागता रहता है कि 'प्रचार करना चाहिए।' सहसा अनुताप होने लगता है कि 'हम कुछ कर नहीं रहे हैं।' मानो 'कुछ करना' ही सर्व-प्रधान हो, और 'क्या करना है', 'किसे करना है', ये सब बातें विचारनेकी ही नहीं! किन्तु, यह बात सदा याद रखनेकी है कि धर्म-प्रचारके काममें 'धर्म' पहले है, 'प्रचार' उसके बाद। ऐसी बात नहीं कि प्रचार करनेसे ही धर्मकी रक्षा होगी, असल बात यह है कि धर्मकी रक्षा करनेसे ही धर्मका प्रचार स्वतः ही होगा।

मनुष्यके सभी महासत्य पुरातन हैं, और 'ईश्वर है' यह बात भी पुराणतम है। इस पुरातनको मनुष्यके आगे चिरकाल नूतन बनाये रखना ही महापुरुषोंका कार्य है। संसारके चिरन्तन धर्मगुरुओंने कोई नया सत्य आविष्कृत किया हो, सो बात नहीं ; बात यह है कि उन्होंने पुरातनको अपने जीवनमें नूतन-रूपमें प्राप्त किया है और संसारमें उसे उन्होंने नूतन-रूपसे उठाकर दिखाया है। नये-नये वसन्त नये-नये पुष्पोंकी सृष्टि नहीं करते, और ऐसे नूतनत्वकी हमें आवश्यकता भी नहीं है। हम तो अपने चिरकालके पुरातन पुष्पोंको ही वर्ष-वर्षमें वसन्त-वसन्तमें नये-नये रूपमें देखना चाहते हैं। संसारमें जो-कुछ

महोत्तम है, महार्घतम है, वह पुरातन है, सरल है, उसमें गोपनीयता कुछ भी नहीं है। जिनका अभ्युदय महासमुद्रके वक्षःस्थलसे वसन्तके समान अनिर्वचनीय जीवन और यौवनका दक्षिण-समीरण अपने साथ वहन कर लाता है वे सहसा इस पुरातनको अपूर्व कर देते हैं, अतिपरिचितको वे अपने जीवनके नये-नये वर्ण गन्ध और रूपसे सजीव सरस रूपमें प्रस्फुटित करके मधु - पिपासुओंको दिग्-दिगन्तसे आकर्षित कर लाते हैं।

हम धर्म - नीतिके सर्वजन - विदित सत्योंकी और ईश्वरकी शक्ति और करुणाकी प्रतिदिन पुनरावृत्ति करके सत्यको जरा भी आगे नहीं बढ़ाते, बल्कि अभ्यस्त वाक्योंकी ताड़नासे अपनी बोध-शक्तिको निष्प्राण कर डालते हैं। जो बातें अत्यन्त जानी-हुई हैं उन्हें एक नियम बाँधकर बार-बार सुनते रहनेसे या तो हमारा मनोयोग बिलकुल ही निश्चेष्ट हो जाता है, नहीं तो हमारा हृदय विद्रोही हो उठता है। संकट केवल यही एकमात्र नहीं है, अनुभूतिका भी एक अभ्यास है। हम विशेष स्थानमें और विशेष भाषा-विन्यासोंमें एक प्रकारके भावावेगका भी मादकताकी भाँति अभ्यास कर ले सकते हैं, और ऐसे अभ्यस्त आवेगको हम आध्यात्मिक सफलता समझ बैठते हैं। किन्तु यह भ्रम है, यह एक प्रकारका सम्मोहन मात्र है। इस रूपमें भी धर्म जब सम्प्रदाय-विशेषमें आबद्ध हो जाता है तब वह उस सम्प्रदायके अधिकांश लोगोंके लिए या तो अभ्यस्त निश्चेतनतामें परिणत हो जाता है, या अभ्यस्त सम्मोहनका रूप ले लेता है। इसका प्रधान कारण यह है कि जिनमें चिर-पुरातन धर्मको नूतन करके विशेषरूपसे अपनानेकी और उसी सूत्रसे उसे फिरसे विशेषरूपसे समस्त मानवके ग्रहण-योग्य उपयोगी बना देनेकी क्षमता नहीं है, वे ही धर्म-रक्षाका भार ग्रहण करते हैं। वे समझते हैं कि हम निश्चेष्ट रहेंगे तो समाजकी क्षति होगी।

जो लोग धर्मकी पूर्ण उपलब्धि किये बिना ही धर्म-प्रचार करनेकी चेष्टा करते हैं वे क्रमशः धर्मको जीवनसे दूर ढकेलते रहते हैं। ये लोग धर्मको एक विशेष लकीर खींचकर एक विशेष सीमामें बन्द कर देते हैं। और धर्म तब विशेष दिनका, विशेष स्थानका और विशेष प्रणालीका हो उठता है। और तब उसमें कहीं कुछ उलट-फेर होते ही सारे साम्प्रदायमें उपद्रव-सा उठ

खड़ा होता है। जमींदार अपनी जमीनकी सीमाको इतनी सतर्कतासे बचानेकी कोशिश नहीं करता जितने प्रचण्ड उत्साहके साथ ये धर्म-व्यवसायी धर्मकी स्व-रचित लकीरकी रक्षाके लिए संग्राम करते रहते हैं। और, इस लकीरकी रक्षाको ही वे धर्म-रक्षा समझते हैं। विज्ञानका कोई मूलतत्त्व आविष्कृत होता है तो वे पहले यही देखते हैं कि वह तत्त्व उनकी लकीरकी सीमापर हस्तक्षेप करता है या नहीं; और यदि करता है, तो 'धर्म गया' समझकर वे भयभीत हो उठते हैं। धर्मके वृन्तको वे इतना क्षीण-दुर्बल कर रखते हैं कि प्रत्येक वायु-हिल्लोलको वे शत्रुपक्ष समझे बिना नहीं रह सकते। धर्मको वे संसारसे बहुत दूर स्थापित कर रखते हैं; इसलिए कि धर्मकी सीमामें मनुष्य कहीं अपने हास्यको, अपने क्रन्दनको, अपने दैनन्दिन व्यापार और अपने जीवनके अधिकांशको लेकर न उपस्थित हो। सप्ताहके एक दिनके एक अंशको, घरके एक कोनेको या नगरके एक मन्दिरको धर्मके लिए उत्सर्ग किया जाता है और अवशिष्ट समस्त देश-कालके साथ उसका पार्थक्य कायम रखा जाता है; यहाँ तक कि इसका एक विरोध क्रमशः प्रस्फुटित हो उठता है। इस तरह देहके साथ आत्माका, संसारके साथ ब्रह्मका, एक सम्प्रदायके साथ अन्य सम्प्रदायका वैषम्य और विद्रोह-भाव स्थापन करना और मनुष्यत्वके बीच गृह-विच्छेद उपस्थित करना ही मानो धर्मका विशेष लक्ष्य हो जाता है।

और वास्तव तथ्य यह है कि संसारके समस्त वैषम्योंमें जो एकमात्र ऐक्य है, समस्त विरोधोंमें जो शान्ति लाता है और समस्त विच्छेदोंमें जो एकमात्र मिलनका सेतु है, उसीको धर्म कहा जा सकता है। और वह धर्म मनुष्यत्वके एक अंशमें अवस्थित रहकर दूसरे अंशके साथ प्रतिक्षण कलह नहीं करता। सम्पूर्ण मनुष्यत्व उसके अन्तर्भूत है; और वही यथार्थ-रूपसे मनुष्यत्वके छोटे बड़े और भीतर-बाहर सर्वत्र और सर्व-अंशोंमें पूर्ण सामञ्जस्य है। उस सुवृहत् सामञ्जस्यसे विच्छिन्न होनेसे मनुष्यत्व सत्यसे स्खलित होता है, सौन्दर्यसे भ्रष्ट हो जाता है। धर्मके इस अमोघ आदर्शको यदि हम गिरजाकी चहारदीवारमें निर्वासित करके अन्य किसी एक उपस्थित प्रयोजनके आदर्शके द्वारा संसारका व्यवहार चलाना चाहें, तो उससे सर्वनाशी अमंगलकी ही सृष्टि होती रहेगी।

किन्तु भारतवर्षका यह आदर्श सनातन नहीं है। हमारा धर्म 'रिलीज़न' नहीं है, वह मनुष्यत्वका एकांश नहीं है ; वह राजनीतिसे तिरष्कृत नहीं है, वह युद्धसे वहिष्कृत नहीं है, व्यवसायसे निर्वासित नहीं है, दैनन्दिन व्यवहारसे दूरीकृत नहीं है। समाजके किसी विशेष-अंशमें उसे प्राचीर-बद्ध करके मनुष्यके आराम-आमोदसे, काव्य-कलासे, ज्ञान-विज्ञानसे उसकी सीमा-रक्षाके लिए सर्वदा पहरा नहीं खड़ा है। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ आदि आश्रम इस धर्मको ही जीवनमें, संसारमें, सर्वतोभावसे सार्थक करनेके सोपान हैं। धर्म संसारके आंशिक प्रयोजन-साधनके लिए नहीं है ; समग्र संसार ही धर्म-साधनके लिए है। इस तरह धर्मने गृहमें गृहधर्म और राज्यमें राजधर्म होकर भारतवर्षके समग्र समाजको एक अखण्ड तात्पर्य दान किया था। इसीलिए भारतवर्षमें जो-कुछ अधर्म था वह अनुपयोगी था और धर्मके द्वारा ही सफलताका विचार होता था, अन्य सफलताओंके द्वारा धर्मका विचार नहीं होता था। इसीलिए भारतवर्षीय आर्य-समाजमें शिक्षाके कालको 'ब्रह्मचर्य' नाम दिया गया था। भारतवर्ष जानता था कि 'ब्रह्म-लाभके द्वारा मनुष्यत्व लाभ करना' ही शिक्षा है। इस शिक्षाके बिना गृहस्थ-तनय 'गृही' और राजपुत्र 'राजा' नहीं हो सकता। कारण, गृह-कर्म करते-हुए ही ब्रह्मको पाना और राज-कार्य करते हुए ही ब्रह्म लाभ करना भारतवर्षका लक्ष्य है। सकल कर्म और सकल आश्रमोंकी सहायतासे ब्रह्मकी उपलब्धि करना जब कि भारतवर्षकी चरम साधना है तब ब्रह्मचर्य ही उसकी शिक्षा है, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

जो व्यक्ति जिस वस्तुको यथार्थ-रूपसे चाहता है वह उसका उपाय भी उसी प्रकार यथार्थ-रूपसे अवलम्बन करता है। युरोप जिस चीजकी कामना करता है, बाल्यकालसे ही वह उसका रास्ता बनाता आ रहा है। अपने समाजमें और दैनन्दिन जीवनमें अपने उस लक्ष्यको वह ज्ञात और अज्ञात-रूपसे पकड़े हुए है। इसी कारण युरोप देश-जय करता है, ऐश्वर्य प्राप्त करता है और प्राकृतिक शक्तिको अपनी सेवाके काममें लगाकर अपनेको वह परम-चरितार्थ समझता है। उसके उद्देश्य और उपायमें सम्पूर्ण सामञ्जस्य होनेसे ही वह सिद्धकाम हुआ है। इसीलिए युरोपके लोग यह कहा करते हैं कि वे अपने

पबलिक-स्कूल और क्रिकेट-क्षेत्रमें रण-विजयकी चरचा करके अपने लक्ष्यकी सिद्धिके लिए प्रस्तुत हुआ करते हैं।

किसी कालमें हमने जब यथार्थ-रूपसे ही ब्रह्म-लाभको चरम लाभ समझा था तब समाजमें सर्वत्र ही उसका यथार्थ उपाय अवलम्बित हुआ था। तब हमारा देश युरोपीय रिलीज़न-चर्चाके आदर्शको धर्म-लाभका आदर्श मानकर कदापि ग्रहण नहीं कर सकता था। यही कारण है कि हमारा धर्म-पालन तब संकुचित होकर विशेष-रूपसे रविवार या और-किसी वारकी चीज नहीं बन पाया था। कारण तब देशकी शिक्षा थी ब्रह्मचर्य, गृहाश्रम था उसकी साधना और समस्त समाज था उसके अनुकूल; और जो ऋषिगण लब्धकाम होकर बोल उठे थे, "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्", बोल उठे थे, "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन", वे ही थे देशके गुरु।

धर्मको यदि हम शौकीनोंका धर्म बना डालें, यदि हम यह समझ लें कि निरवच्छिन्न भोग-विलासके किसी एक कोनेमें धर्मको भी थोड़ा-सा स्थान देना आवश्यक है, नहीं तो भव्यताकी रक्षा नहीं होगी और घरके बाल-बच्चोंके जीवनमें जितना धर्मका सम्पर्क रखना शोभन है उतना भी रखनेका उपाय नहीं रहेगा, और यदि हम यह समझें कि हमारे आदर्शभूत पाश्चात्य समाजमें भद्र-परिवारोंमें धर्मको जितने अंशमें स्वीकार करना भद्रता-रक्षाका अंग समझा जाता है, हम भी सब विषयोंमें उनका अनुवर्तन करके कमसे कम उतने अंशमें धर्मकी व्यवस्था न कर रखें तो यह हमारे लिए बड़ी लज्जाकी बात होगी, और इस तरह यदि हम अपने 'भद्रता-विलासके असबाब'के साथ भारतके सुमहान ब्रह्म-नामको जड़ित कर रखें, तो हम अपने पितामहोंकी पवित्रतम साधनाको चटुलतम परिहासमें ही परिणत करेंगे।

किन्तु, जिन्होंने ब्रह्मकी सर्वत्र उपलब्धि की थी वे ऋषि क्या कहते हैं? वे कहते हैं— "ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।"

अर्थात् 'विश्व-जगत्में जो-कुछ चल रहा है, सब-कुछको ही ईश्वरके द्वारा आवृत देखना होगा, और वे जो-कुछ दान कर रहे हैं उसीको भोग करना

होगा, अन्यके धनपर लोभ नहीं करना।' किन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि 'ईश्वर सर्वव्यापी है' इस बातको मानकर फिर अपने मनमाने ढंगसे उच्छृङ्खल होकर चला जा सकता है। यथार्थ-रूपमें ईश्वरके द्वारा सब-कुछको आच्छन्न करके देखनेका अर्थ अत्यन्त विशाल है, उस रूपसे बिना देखे संसारको सत्य-रूपमें नहीं देखा जा सकना; और संसारको सत्य-रूपमें न देख सकना ही जीवनको अन्धा बनाये रखना है।

"ईशावास्यमिदं सर्वम्"– यह कामकी बात है, यह कोई काल्पनिक बात नहीं है, यह केवल सुनके जाननेका और उच्चारण करके माननेका मन्त्र नहीं है। गुरुसे इस मन्त्रको ग्रहण करके उसके बाद प्रतिदिन पद-पदपर जीवनमें उसे सफल करना होगा। संसारको क्रमशः ईश्वरमें व्याप्त करके देखना होगा। पिताकी उसी पितामें, माताकी उसी मातामें, बन्धुकी उसी बन्धुमें और प्रतिवेशी, स्वदेशी और मनुष्य-समाजकी उसी सर्वभूत-अन्तरात्मामें उपलब्धि करनी होगी।

ऋषियोंने ब्रह्मको कितने सत्य रूपमें देखा है, सो उनके एक वाक्यसे ही समझा जा सकता है; उन्होंने कहा है, "तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।" 'यह जो ब्रह्मलोक है, अर्थात् जो ब्रह्मलोक सर्वत्र ही विद्यमान है, यह उन्हींका है जिनकी तपस्या है, जिनका ब्रह्मचर्य है और सत्य जिनमें प्रतिष्ठित हुआ है।' अर्थात्, जो यथार्थरूपसे इच्छा करते हैं, यथार्थरूपसे चेष्टा करते हैं और यथार्थ उपाय अवलम्बन करते हैं, यह ब्रह्मलोक उन्हींका है। तपस्या कोई एक कौशल-विशेष नहीं है, वह कोई एक गोपन रहस्य नहीं है।

भारतवर्षके ऋषि कहते हैं, "ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवःसुवर्ब्रह्मैतदुपास्यैतत् तपः।" 'ऋत ही तपस्या है, सत्य ही सपस्या है, श्रुत तपस्या है, इन्द्रिय-निग्रह तपस्या है, दान तपस्या है, कर्म तपस्या है, और भूर्लोक-भुवर्लोक-स्वर्लोक-व्यापी जो ब्रह्म हैं उनकी उपासना ही तपस्या है।' अर्थात् ब्रह्मचर्यके द्वारा बल तेज शान्ति सन्तोष निष्ठा और पवित्रता लाभ करके, दान और कर्म-द्वारा स्वार्थ-पाशसे मुक्त होकर तब कहीं भीतर और बाहर, आत्मा और परमें, लोक और लोकान्तरमें ब्रह्मको

प्राप्त किया जा सकता है। उपनिषदका कहना है कि जिन्होंने ब्रह्मको जान लिया है वे 'सर्वमेवाविवेश' हैं, सबमें प्रवेश करते हैं।

विश्वसे हम जितने परिमाणमें विमुख होते हैं, ब्रह्मसे भी हम उतने ही परिमाणमें विमुख होते रहते हैं। हमने धैर्य प्राप्त किया या नहीं, अभय प्राप्त किया या नहीं, क्षमा हमारे लिए सहज हुई या नहीं, आत्म-विस्मृत मङ्गलभाव हमारे लिए स्वाभाविक हुआ या नहीं, पर-निन्दा हमारे लिए अप्रिय हुई या नहीं, दूसरोंके प्रति ईर्षाका उद्रेक हमारे लिए परम लज्जाका विषय हुआ या नहीं, वैषयिकताका बन्धन और ऐश्वर्य-आडम्बरका प्रलोभन-पाश क्रमशः शिथिल हो रहा है या नहीं, और जिसका वश करना सर्वापेक्षा दुरूह है वह आत्माभिमान वंशी-ध्वनि-विमुग्ध भुजङ्गकी तरह क्रमशः अपना मस्तक नत कर रहा है या नहीं—इन सब बातोंकी शोध-खोज करनेसे हम यथार्थरूपमें देखेंगे कि ब्रह्ममें हम कहाँ तक अग्रसर हो सके हैं, ब्रह्मके द्वारा निखिल-जगत्को हमने कहाँ तक सत्य-रूपमें आवृत देखा है।

हम विश्वमें अन्यत्र सर्वत्र ब्रह्मके आविर्भावको केवल साधारण-रूपमें अपने ज्ञानसे जान सकते हैं। जल-स्थल-आकाश-ग्रह-नक्षत्रके साथ हमारे हृदयका आदान-प्रदान नहीं चलता, उनके साथ हमारे मङ्गल-कर्मोंका सम्बन्ध नहीं है। हम ज्ञान प्रेम और कर्मसे, अर्थात् सम्पूर्ण-रूपसे, केवल मनुष्यको ही पा सकते हैं। इसलिए मनुष्यमें ही पूर्णतर-रूपसे ब्रह्मकी उपलब्धि हमारे लिए सम्भवपर हो सकती है। निखिल मानवात्मामें हम उस परमात्माको निकटतम और अन्तरतम-रूपमें जानकर उन्हें बारम्बार नमस्कार करते हैं। सर्वभूतान्तरात्मा ब्रह्म ही इस मनुष्यत्वकी गोदमें माताके समान ही हमें धारण किये-हुए हैं, इस विश्वमानवके स्तन्यरस-प्रवाहमें ब्रह्म ही हमें चिरकाल-संचित प्राण बुद्धि प्रीति और उद्यमसे निरन्तर परिपूर्ण किये रखते हैं, इस विश्वमानवके राजभण्डारमें हमारे लिए ज्ञान और धर्म प्रतिदिन पुञ्जीभूत होता रहता है। इस मानवात्मामें उस विश्वात्माको प्रत्यक्ष करनेसे हमारी परितृप्ति घनिष्ठ होती है; कारण मानव-समाजके उत्तरोत्तर विकाशमान अपूर्व रहस्यमय इतिहासमें ब्रह्मके आविर्भावको केवल जान लेना मात्र ही हमारे लिए यथेष्ट आनन्द नहीं है, मानव-समाजके

वैचित्र्यमय प्रीति-सन्बन्धमें ब्रह्मके प्रीति-रसका निश्चयताके साथ अनुभव कर सकना हमारी अनुभूतिकी चरम सार्थकता है ; और प्रीति-वृत्तिका स्वाभाविक परिणाम जो कर्म है उस कर्म के द्वारा मानवकी सेवाके रूपमें ब्रह्मकी सेवा करना हमारी कर्म-परायणताका चरम साफल्य है। कहनेका तात्पर्य यह कि जब हम अपनी बुद्धिवृत्ति हृदयवृत्ति कर्मवृत्ति और अपनी सम्पूर्ण शक्तिको समग्र-रूपसे प्रयोग करेंगे तभी हमारा अधिकार हमारे लिए यथासम्भव सम्पूर्ण होता है। इसलिए ब्रह्मके अधिकारको बुद्धि प्रीति और कर्मके द्वारा सम्पूर्ण करनेका क्षेत्र हमारे लिए मनुष्यत्वके सिवा अन्यत्र कहीं भी नहीं है। माता जैसे एकमात्र मातृ-सम्बन्धसे ही शिशुके लिए सर्वापेक्षा निकट और सर्वापेक्षा प्रत्यक्ष है, संसारके साथ माताका अन्यान्य विचित्र सम्बन्ध शिशुके लिए अगोचर और अव्यवहार्य हैं, ठीक इसी तरह ब्रह्म भी मनुष्यके लिए एकमात्र मनुष्यत्वमें ही सर्वापेक्षा सत्य-रूपमें प्रत्यक्ष-रूपमें विराजमान हैं, और इस सम्बन्धमेंसे ही हम उन्हें जानते हैं, उनसे प्रीति करते हैं, उनका कर्म करते हैं। इसलिए मानव-संसारके भीतर ही, प्रतिदिनके छोटे और बड़े समस्त कर्मोंमें ही, ब्रह्मकी उपासना मनुष्यके लिए एकमात्र सत्य उपासना है। अन्य उपासना आंशिक है, केवल ज्ञानकी उपासना है, केवल भावकी उपासना है। ऐसी उपासनाके द्वारा हम क्षण-क्षणमें ब्रह्मका स्पर्श कर सकते हैं, किन्तु ब्रह्मको पा नहीं सकते।

यह बात प्रायः सभी जानते हैं कि बहुधा मनुष्य उपाय-रूपमें जिसका आश्रय लेता है उसीको उद्देश्य-रूपमें वरण कर लेता है ; जिसे वह राज्य-लाभके लिए सहायक मात्र समझकर बुला लेता है वही उसका राज-सिंहासन अधिकार कर बैठता है। हमारे धर्म-समाजकी रचनामें भी ऐसे संकटकी पूरी सम्भावना है। हम धर्म-लाभके लिए धर्म-समाजकी स्थापना करते हैं, किन्तु देखा यह जाता है कि अन्तमें धर्म-समाज ही धर्मका स्थान अधिकार कर बैठता है। हमारी अपनी चेष्टासे रचित सामग्री ही हमारी सम्पूर्ण ममताको क्रमशः इस तरह आकर्षित कर लेती है कि धर्म ही, जो हमारा स्वरचित नहीं है, उसके पीछे पड़ा रह जाता है ; और इस तरह हमारी अपनी रचना तो हो जाती है मुख्य और धर्म हो जाता है गौण। तब, हमारे समाजके बाहर और-कहीं भी धर्म

हो सकता है, यह बात स्वीकार करनेमें कष्ट मालूम होता है। देश-विजयके लोभी जैसे देश जय करने निकल पड़ते हैं उसी तरह हम धर्म-समाजकी ध्वजा लेकर निकल पड़ते हैं। और अन्यान्य दलोंके साथ तुलना करके हम अपने दलका लोकबल, अर्थबल और मन्दिरोंकी संख्या गिनते रहते हैं। इससे होता यह है कि हमारे मङ्गल-कार्योंमें मङ्गल-साधनके आनन्दकी अपेक्षा मङ्गल-साधनकी प्रतिद्वन्द्विता बड़ी हो उठती है। दलबन्दीकी आग किसी भी तरह बुझती नहीं, बराबर बढ़ती ही जाती है।

हमारा इस समयका प्रधान कर्तव्य यह है कि धर्मको हम धर्म-समाजके हाथ पीड़ित न होने दें। ब्रह्म धन्य हैं, वे सर्व देश और सर्व कालमें धन्य हैं। वे किसी दलके नहीं हैं, किसी समाजके नहीं हैं, किसी विशेष धर्म-प्रणालीके नहीं हैं; उनको लेकर धर्मका व्यवसाय खोलकर नहीं बैठा जा सकता। ब्रह्मचारी शिष्यने पूछा था, 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति'', 'भगवान् कहाँ प्रतिष्ठित हैं?' ब्रह्मवादीने उत्तर दिया था, ''स्वे महिम्नि'', 'अपनी महिमामें।' उन्हींकी उस महिमामें हमें उनकी प्रतिष्ठा अनुभव करनी होगी, अपनी रचनामें नहीं।

सि०सं०१९६०]

दुःख

जगत्-संसारके विधानके सम्बन्धमें जब भी हम विचार करने बैठते हैं, तभी, यही एक प्रश्न कि 'इस विश्व-राज्यमें दुःख क्यों है', हमें सर्वाधिक संशयमें आन्दोलित कर देता है। हममेंसे कोई तो इसे 'मानव-पितामहके आदिम पापका दण्ड' बताते हैं, और कोई समझते हैं कि 'यह हमारे जन्म जन्मान्तरका कर्म-फल है।' किन्तु इससे दुःख तो दुःख ही रह जाता है।

दुःख तो दुःख ही रहेगा वह अन्य कुछ भी नहीं हो सकता। कारण, दुःखका तत्त्व और सृष्टिका तत्त्व एकसाथ बँधा-हुआ है। कारण, अपूर्णता ही दुःख है, और सृष्टि है अपूर्ण। यह अपूर्णता भी आखिर क्यों है? यह मूल बात है, बिलकुल आरम्भकी बात। किन्तु ऐसी अनोखी आशा हम अपने

मनमें भी नहीं ला सकते कि 'सृष्टि अपूर्ण नहीं होगी, वह देश-कालमें विभक्त नहीं होगी और कार्य-कारणसे आबद्ध नहीं होगी।'

ऐसा न हो तो फिर पूर्णका प्रकाश कैसे होगा? उपनिषदमें कहा गया है कि 'जो-कुछ प्रकाशित है वह ब्रह्मका ही अमृत-आनन्दरूप है।' उनकी अमर इच्छा ही इन समस्त रूपोंमें व्यक्त हो रही है। ब्रह्मका यह जो प्रकाश है, उपनिषदने इसे तीन भागोंमें विभक्त करके देखा है। एक प्रकाश जगतमें, और-एक प्रकाश मानव-समाजमें, और-एक प्रकाश मानव-आत्मामें। एक है 'शान्तं', एक है 'शिवं' और एक है 'अद्वैतम्'।

'शान्तम्' यदि अपने-आपमें ही स्तब्ध रहें, तो वे प्रकाशित हो ही नहीं सकते। यह जो चंचल विश्व-जगत् बराबर घूम ही रहा है, इसकी प्रचण्ड गतिमें ही वे अचंचल नियम-स्वरूपमें अपने शान्त-रूपको व्यक्त कर रहे हैं। 'शान्तं' इस जगतके समस्त चाञ्चल्यको विधृत किये-हुए हैं, धारणा किये-हुए हैं, इसीलिए वे शान्त हैं। नहीं तो उनका प्रकाश कहाँ है?

'शिवम्' केवल अपने-आपमें ही स्थिर रहें तो उन्हें शिव ही नहीं कहा जा सकता। संसारमें चेष्टा और दुःखकी कोई सीमा नहीं। इस कर्म-क्लेशमें ही अमोघ मंगलके द्वारा वे अपना शिव-स्वरूप प्रकाशित कर रहे हैं। मंगल संसारके समस्त दुःख-तापको अतिक्रम किये-हुए है, और इसीलिए वे मंगल हैं, इसीलिए वे धर्म हैं। नहीं तो उनका प्रकाश कहाँ हैं?

'अद्वैत' यदि अपने-आपमें ही स्थिर रहते, तो उस ऐक्यका प्रकाश होता कैसे? हमारा चित्त संसारमें अपने-परायेके भेद-वैचित्र्यसे प्रतिक्षण आहत-प्रतिहत हो रहा है, इन भेदोंमें ही प्रेमके द्वारा वे अपना अद्वैत-रूप प्रकाशित कर रहे हैं। प्रेम यदि समस्त भेदोंमें सम्बन्ध स्थापित न करता, तो अद्वैत किसके आधारपर अपनेको प्रकाशित करते?

जगत् अपूर्ण होनेसे ही चञ्चल है, मानव-समाज अपूर्ण होनेसे ही सचेष्ट है और हमारा आत्मबोध अपूर्ण होनेसे ही हम आत्माको और अन्य समस्तको विभिन्न रूपमें ही जानते-देखते हैं। किन्तु असलमें, जगतके इस चाञ्चल्यमें ही शान्ति है, दुःख-चेष्टामें ही सफलता है और भेदमें ही प्रेम है।

इसलिए, यह बात ध्यानमें रहनी चाहिए कि पूर्णताके विपरीत शून्यता है, किन्तु अपूर्णता पूर्णताके विपरीत नहीं, विरुद्ध नहीं, वह तो पूर्णताका ही विकाश है। गान जब चालू है, जब वह 'सम' में आकर शेष नहीं हुआ है, तब वह सम्पूर्ण न होनेपर भी गानके विपरीत नहीं है; उसके अंश-अंशमें सम्पूर्ण गानका ही आनन्द तरंगित हो रहा है।

यह न हो तो रस कैसे हो? 'रसो वै सः'। वे जो रस-स्वरूप हैं। अपूर्णको वे प्रतिक्षण ही परिपूर्ण किये रहते हैं इसीलिए तो वे रस हैं। उनसे सब-कुछ भरपूर हुआ रहता है, परिपूर्ण होता रहता है,– यही रसकी आकृति है, यही रसकी प्रकृति है। इसीलिए जगत्का प्रकाश 'आनन्दरूपममृतम्' है, यही आनन्दका रूप है, यही आनन्दके अमृतका रूप है। इसी कारण यह अपूर्ण विश्व-जगत् शून्य नहीं है, मिथ्या नहीं है। यही कारण है कि इस जगत्में रूपकी अपूर्वता, शब्दकी वेदना और घ्राणकी व्याकुलता हमें न-जाने कैसी एक अनिर्वचनीयतामें निमग्न किये दे रही है! और आकाश केवल हमें वेष्टन किये ही नहीं है किन्तु वह हमारे हृदयको विस्फारित किये दे रहा है, आलोक केवल हमारी दृष्टिको सार्थक ही नहीं कर रहा है किन्तु वह हमारे अन्तःकरणको उद्बोधित किये दे रहा है; और जो-कुछ है वह केवल 'है' ही नहीं किन्तु वह हमारे चित्तको चेतनासे और हमारी आत्माको सत्यसे सम्पूर्ण कर रहा है।

जब हम देखते हैं कि शीतऋतुकी पद्मा नदीका निस्तरंग नीलकान्त जलस्रोत पीताभ बालू-तटकी निःशब्द निर्जनतामेंसे लगातार चलता ही चला जा रहा है तब क्या हम यह कहते हैं कि 'यह क्या हो रहा है?' 'नदीका जल बह रहा है'– इतना कह देनेसे तो सब कहना नहीं हुआ, यहाँ तक कि कुछ भी कहना नहीं हुआ। उसकी आश्चर्यकारी शक्ति और आश्चर्यजनक सौन्दर्यके विषयमें इसमें क्या कहा गया? वचनके अतीत उस परम-पदार्थको, उस अपूर्व रूपको, उस ध्वनिहीन संगीतको, जलकी यह धारा कैसे ऐसे गभीर रूपमें व्यक्त कर रही है! यह तो केवल जल और मिट्टी ही है, 'मृत्पिण्डो जलरेखया वलयितः'; किन्तु जो प्रकाशित हो रहा है वह क्या है? वही 'आनन्दरूपममृतम्' है, वही आनन्दका अमृत-रूप है।

और फिर ग्रीष्मऋतुमें प्रचण्ड काल-वैशाखी आँधीके समय भी इस नदीको देखा है। बालू उड़ाकर सूर्यास्तकी रक्तच्छटाको पाण्डुवर्ण करती हुई, कशाहत काले घोड़ेकी चिकनी चमड़ीकी तरह, नदीके जलको रह-रहकर कँपाती हुई, उस पारकी वनश्रेणीके ऊपरके आकाशमें एक तरहकी निःस्पन्द आतङ्ककी विदीर्णता फैलाती हुई, और फिर स्वयं उस जल-स्थल-आकाशके जालमें फँसी अपने ही द्वारा छिन्न-विच्छिन्न किये-हुए मेघोंसे विजड़ित और आवर्तित होती हुई उन्मत्त और दिग्भ्रान्त प्रचण्ड काल-वैशाखी आँधीका आविर्भाव भी देखा है। वह क्या केवल मेघ और वायु ही है, बालू और धूल ही है, जल और स्थल ही है? इन सब अकिंचित्कर पदार्थोंमें यह तो अपूर्व रूपका दर्शन है! यही तो रस है। यह तो केवल वीणाका काष्ठ और तार नहीं है, यही वीणाका संगीत है। इस आनन्दका परिचय है वही 'आनन्दरूपममृतम्।'

और, मनुष्योंमें जो देखा है वह भी मनुष्यको कितना पीछे छोड़ गया है! रहस्यका कोई अन्त ही नहीं। शक्ति और प्रीतिने कितने लोगों और कितनी जातियोंके इतिहासमें कितने आश्चर्यकारी आकार धारण करके कितनी अचिन्त्य घटनाओं और कितने असाध्य-साधनोंमेंसे सीमाके बन्धनको विदीर्ण करके 'भूमा'को प्रत्यक्ष किया है! मनुष्यमें यही आनन्दरूपममृतम् है। मानो कोई विश्व-महोत्सवमें इस नीलाकाशके महाप्राङ्गणमें अपूर्णताकी पत्तलें परोस गया है और हम सब वहाँ पूर्णताके भोजमें बैठ गये हैं! वह पूर्णता कितने विचित्र रूप और कितने विचित्र स्वादसे क्षण-क्षणमें हमें अचिन्तनीय और अनिर्वचनीय चेतनाके विस्मयसे जाग्रत किये दे रही है! यदि ऐसा न हो, तो रसस्वरूप रस देंगे कैसे? अपूर्णताके सुकठिन दुःखको ऊपर तक भरकर यह रस बाहर उछला पड़ रहा है। दुःखका यह सोनेका पात्र कठिन होनेसे ही क्या इसे तोड़-फोड़कर चकनाचूर करके इतने बड़े रसके भोजको व्यर्थ कर देनेकी चेष्टा करनी चाहिए? नहीं। परिवेषणकारिणी लक्ष्मीको पुकारकर हम यही कहेंगे कि 'कठिन है तो होने दो कठिन, किन्तु तुम इसे भरपूर किये रहो, जिससे 'आनन्द' दुःखके काठिन्यको अतिक्रम करके गले तक भरकर छलकता रहे।'

जगतकी यह अपूर्णता जैसे पूर्णताके विपरीत नहीं किन्तु पूर्णताका ही एक प्रकाश है, वैसे ही इस अपूर्णताका नित्य-सहचर दुःख दुःख ही नहीं है, वह आनन्द है। दुःख भी 'आनन्दरूपममृतन्' है। किन्तु यह बात कैसे कही जाय? और इसको सम्पूर्ण-रूपसे प्रमाणित भी कैसे कर दिखाया जाय?

अमावस्याका अन्धकार जैसे अनन्त ज्योतिष्कलोकको प्रकट कर देता है उसी प्रकार दुःखकी निविड़तम तमसामें उतरकर आत्माको क्या कभी किसी दिन भी आनन्दलोककी ध्रुव दीप्ति नहीं दिखाई दी? और, अकस्मात् क्या कभी भी वह बोल नहीं उठा कि "समझ गया, दुःखका रहस्य समझ गया; अब कभी भी संशय नहीं करूँगा।" परम दुःखका शेष प्रान्त जहाँ जाकर मिलित हुआ है वहाँ क्या हमारे हृदयने किसी शुभ मुहूर्तमें आँख खोलकर नहीं देखा? अमृत और मृत्यु, आनन्द और दुःख, वहाँ क्या एक नहीं हो गया? उसीकी ओर देखकर क्या ऋषिओंने नहीं कहा—

"यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम!"

'अमृत जिसकी छाया है, मृत्यु भी उसीकी छाया है; उसके सिवा और किस देवताकी पूजा करें!'

यह क्या तर्कका विषय है? यह क्या हमारे लिए अनुभूति-उपलब्धिका विषय नहीं है? समस्त मनुष्योंके अन्तःकरणमें यही अनुभूति गभीर-रूपसे विद्यमान होनेसे ही मनुष्य दुःखकी ही पूजा करता आया है, आरामकी नहीं। संसारके इतिहासमें मनुष्यके परम पूज्यगण दुःखके ही अवतार हैं। आराममें पले लक्ष्मीके क्रीतदास मनुष्यके पूज्य न कभी हुए और न कभी होंगे। अतएव, दुःखको हम दुर्बलतावश खर्व नहीं करेंगे, छोटा नहीं करेंगे, अस्वीकार नहीं करेंगे। दुःखके द्वारा ही आनन्दको हम बड़ा मानकर और मंगलको सत्य जानकर स्वीकार करेंगे।

इस बातका हमें ध्यान रखना होगा कि अपूर्णताका गौरव ही दुःख है, और दुःख ही अपूर्णताकी सम्पद् है, दुःख ही एकमात्र मूलधन है। मनुष्य सत्य-पदार्थ जो भी कुछ पाता है वह दुःखके द्वारा ही पाता है, और इसीमें उसका मनुष्यत्व है। मनुष्यकी क्षमता अल्प है, किन्तु ईश्वरने उसे भिक्षुक नहीं

बनाया। वह केवल माँगकर ही कुछ नहीं पाता, दुःख उठाकर पाता है। और जो-कुछ धन है वह तो उसका नहीं है, वह सब विश्वेश्वरका है; किन्तु दुःख तो बिलकुल ही उसका अपना है। उस दुःखके ऐश्वर्यसे ही अपूर्ण जीव पूर्ण-स्वरूपके साथ अपने गर्वके सम्बन्धकी रक्षा कर रहा है, उसे लज्जित नहीं होना पड़ा। साधनाके द्वारा हम ईश्वरको पाते हैं, तपस्याके द्वारा हम ब्रह्मको प्राप्त करते हैं, इसका अर्थ यह है कि ईश्वरमें जैसे पूर्णता है, हममें भी वैसे ही पूर्णताका मूल्य है; वही दुःख है, वह दुःख ही साधना है, वह दुःख ही तपस्या है, और उस दुःखका परिणाम आनन्द है, मुक्ति है, ईश्वर है।

हमारी ओरसे ईश्वरको यदि कुछ देना हो तो हम क्या देंगे, हम क्या दे सकते हैं? उनका धन उन्हींको देनेमें तो तृप्ति नहीं; इसलिए, हमारा एकमात्र जो अपना धन है दुःख-धन, उसीको उन्हें समर्पण करना होगा। इस दुःखको ही वे आनन्द देकर, स्वयं अपनेको देकर पूर्ण कर देते हैं; अन्यथा वे आनन्द उँड़ेलेंगे कहाँ? हमारे अपने घरका यह पात्र न होता तो अपनी सुधाको वे दान कैसे करते? यही एक बात है जिसे हम गौरवके साथ कह सकते हैं। दानमें ही ऐश्वर्यकी पूर्णता है। हे भगवन्, आनन्दको दान करनेकी, वर्षण करनेकी, प्रवाहित करनेकी यह जो तुम्हारी शक्ति है, सो तुम्हारी पूर्णताका ही अंग है। आनन्द अपने-आपमें आबद्ध होकर सम्पूर्ण नहीं होता, आनन्द अपनेको दान करके उस त्यागमें ही सार्थक है। तुम्हारे उस अपने-आपको दान करनेकी परिपूर्णताको हम ही वहन कर रहे हैं, अपने दुःखके द्वारा वहन कर रहे हैं; यही हमारे लिए बड़े अभिमानकी बात है; और यहीं तुमसे हम मिलते हैं, यहीं तुम्हारे ऐश्वर्य और हमारे ऐश्वर्यका योग है। यहीं तुम हमारे अतीत नहीं हो, यहीं तुम हमारे पास उतर आये हो। तुम अपने अगण्य ग्रह-सूर्य-नक्षत्र-खचित महासिंहासनसे हमारे दुःखके जीवनमें अपनी लीला सम्पूर्ण करने आये हो। हे राजा, तुम हमारे दुःखके राजा हो। सहसा जब अर्धरात्रिमें तुम्हारे रथचक्रके वज्रगर्जनसे वलिके पशुके हृत्पिण्डकी तरह मेदिनी काँप उठती है, तब, तुम्हारे उस प्रचण्ड आविर्भावके महाक्षणमें अपने जीवनमें हम तुम्हारी जयध्वनि कर सकें, इतना करो, हे दुःखके धन! उस दिन किसी भयसे ऐसी

बात न कहें कि 'हम तुम्हें नहीं चाहते।' उस दिन तुम्हें द्वार तोड़कर घरमें प्रवेश न करना पड़े, उस दिन सम्पूर्ण जाग्रत होकर सिंहद्वार खोलकर तुम्हारे उद्दीप्त ललाटकी ओर दानों आँख उठाकर हम कह सकें कि 'हे दारुण, तुम ही हमारे प्रिय हो।' हम दुःखके विरुद्ध विद्रोह करके प्रायः यह कहनेकी चेष्टा करते हैं कि 'हम सुख-दुःखको समान समझेंगे।' व्यक्ति-विशेषके लिए किसी उपायसे चित्तको निष्प्राण करके ऐसा उदासीन होना शायद असम्भव न हो ; किन्तु सुख-दुःख तो मात्र अपना ही नहीं है, वह जगत्के समस्त जीवोंसे सम्बन्धित है। एक मेरे दुःखके चले जानेसे ही तो संसारका दुःख नहीं चला जाता। इसलिए दुःखको केवल अपनेमें ही नहीं किन्तु उस विराट रङ्गभूमिमें देखना होगा जहाँ वह अपनी वह्निके तापसे, अपने बज्रके आघातसे अनेकानेक राष्ट्र, राज्य, समाज और जातियाँ गढ़ता चला जा रहा है ; जहाँ वह मनुष्यकी जिज्ञासाको दुर्गम मार्गसे दौड़ाता चला जा रहा है, मनुष्यकी इच्छाको दुर्भेद्य बाधाओंमेंसे उद्भिन्न किये दे रहा है और मनुष्यकी चेष्टाको किसी क्षुद्र सफलतामें निःशेषित नहीं होने दे रहा है ; जहाँ युद्ध-विग्रह दुर्भिक्ष-महामारी अन्याय-अत्याचार उसके सहाय हैं ; जहाँ वह रक्त-सरोवरमेंसे शुभ्र शान्तिको विकशित किया करता है, दरिद्रताके निष्ठुर तापसे वारि शोषण करके वर्षणके मेघोंकी रचना किया करता है, और जहाँ वह हलधरकी मूर्ति धारण कर सुतीक्ष्ण हलसे मानव-हृदयको शत-शत रेखाओंमें दीर्ण-विदीर्ण करके ही उसे फलवान कर देता है। वहाँ उस दुःखके हाथसे परित्राणको परित्राण नहीं कहा जाता, वह परित्राण ही मृत्यु है ; वहाँ स्वेच्छासे अञ्जलि रचना करके जो उसे प्रथम अर्घ्य नहीं दे सका है वह स्वयं ही बिडम्बित हुआ है।

मनुष्यका यह जो दुःख है सो केवल कोमल अश्रु-वाष्पसे आच्छन्न नहीं है, वह रुद्र तेजसे उद्दीप्त है। विश्वजगत्में जैसे तेजःपदार्थ है वैसे ही मनुष्यके चित्तमें दुःख है। वही आलोक है, वही ताप है, वही गति है, वही प्राण है, वही चक्रपथसे घूम-घूमकर मानवसमाजमें नये-नये कर्मलोक और सौन्दर्यलोककी सृष्टि कर रहा है। दुःखके इस तापने ही कहीं प्रकट होकर तो कहीं प्रच्छन्न रहकर मानव-संसारके सम्पूर्ण वायु-प्रवाहको गतिवान कर रखा है।

मनुष्यके इस दुःखको हम क्षुद्र या दुर्बल-रूपमें न देखें। इसे हम छाती खोलकर मस्तक उठाकर ही स्वीकार करेंगे, इस दुःखकी शक्तिके द्वारा अपनेको भस्म नहीं होने देंगे, इससे हम अपनेको कठिन करके गढ़ेंगे। दुःखसे अपनेको ऊपर न उठाकर उससे अपनेको अभिभूत करके अथाहमें डुबो देना ही दुःखकी अवमानना है ; जिसे यथार्थ-रूपसे वहन कर सकनेसे ही जीवन सार्थक होता है उससे आत्महत्या करनेकी तैयारी करनेसे दुःख-देवताके समक्ष अपराधी होना पड़ता है। दुःखके सिवा उस सम्मानको समझनेका और कोई रास्ता ही नहीं है। कारण, पहले ही आभास दे चुका हूं कि दुःख ही जगत्‌में एकमात्र सकल पदार्थका मूल्य है। मनुष्यने जो-कुछ निर्माण किया है वह दुःखसे ही किया है। दुःखसे जिसे उसने नहीं किया वह उसका अपना नहीं है। इसीलिए त्यागके द्वारा, दानके द्वारा, तपस्याके द्वारा, दुःखके द्वारा ही हम अपनी आत्माको गभीर-रूपसे पाते हैं, सुख या आरामके द्वारा नहीं। दुःखके सिवा और किसी उपायसे हम अपनी शक्तिको नहीं जान सकते; और अपनी शक्तिको जितना ही कम करके जानेंगे, आत्माका गौरव भी उतना ही कम करके समझेंगे, और हमारा यथार्थ आनन्द भी उतना ही अगभीर रह जायगा।

'रामायण' में कविने रामको, सीताको, लक्ष्मणको, भरतको दुःखके द्वारा ही महिमान्वित कर दिया है। 'रामायण'के काव्य-रसमें मनुष्यने जो आनन्दकी मंगल-मूर्तियाँ देखी हैं, दुःख ही उन्हें धारण किये-हुए है। 'महाभारत' में भी यही बात है। मनुष्यके इतिहासमें जितना भी वीरत्व और जितना भी महत्त्व है, वह सब दुःखके आसनपर ही प्रतिष्ठित है। मातृ-स्नेहका मूल्य है दुःखमें, पातिव्रत्यका मूल्य है दुःखमें, शौर्य-वीर्यका मूल्य है दुःखमें, पुण्यका भी मूल्य है दुःखमें।

इस मूल्यको ईश्वर यदि मनुष्यके हाथसे छीन लें और यदि वे मनुष्यको अविमिश्र सुख और आराममें ही लालित कर रखें, तो हमारी अपूर्णता वास्तवमें लज्जाजनक हो जाय, और उसकी मर्यादा ही जाती रहे। तब फिर किसी वस्तुको ही हम अपनी अर्जित नहीं कह सकेंगे, और हमारा सब-कुछ दानका धन हो उठेगा। आज ईश्वरके शस्यान्नको हम कर्षणके द्वारा अपना बना रहे

हैं, पानीय जलको ढोनेके दुःखसे अपना बना रहे हैं, अग्निको घर्षणके दुःखसे अपना कर रहे हैं। ईश्वरने हमारी अत्यावश्यक सामग्रियोंको सहजमें देकर हमारा असम्मान नहीं किया। वस्तुतः ईश्वरके दानको भी हमें विशेष-रूपसे अपना बना लेना होता है, तभी हम उसे पाते हैं, नहीं तो नहीं पाते। यदि हमारे दुःखको वे उठा लें, तो फिर जगत्-संसारमें हमारा सारा अधिकार ही जाता रहे। हमारे हाथ फिर कोई अधिकार-पत्र ही नहीं रहेगा। तब फिर ऐसा लगेगा कि हम सब दाताके घर रह रहे हैं, अपने घर नहीं। असलमें, यही हमारा यथार्थ अभाव है। मनुष्यके लिए दुःखके अभावके बराबर इतना बड़ा अभाव और कुछ हो ही नहीं सकता।

उपनिषदका कहना है, "स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा सर्वमसृजत यदिदं किञ्च।" अर्थात् 'उन्होंने तप किया, और तप करके यह जो-कुछ है सबकी सृष्टि की।' उनका तप ही दुःख-रूपमें जगत्में विराज रहा है। हम भीतर-बाहर जो-भी-कुछ सृष्टि करना चाहते हैं उसे तप करके ही कर सकते हैं। हमारे समस्त जन्म ही वेदनामेंसे आते हैं, हमारे समस्त लाभ ही त्यागके मार्गसे आते हैं, हमारे समस्त अमृत ही सोपान चढ़कर आते हैं। ईश्वरकी तपस्याको हम इसी तरह वहन कर रहे हैं। उन्हींके तपका ताप मनुष्यके अन्तःकरणमें नये-नये रूपमें नये-नये प्रकाशोंको उद्घाटित कर रहा है। यह तपस्या आनन्दका ही अंग है। इसीलिए एक अन्य अपेक्षासे कहा गया है, "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।" 'आनन्दसे ही इन भूतोंकी उत्पत्ति हुई है।' आनन्दके सिवा सृष्टिके इतने बड़े दुःखको वहन कौन करेगा? "कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्!"

कृषक खेती करके जो फसल उत्पन्न कर रहा है उस फसलमें उसकी तपस्या जितनी बड़ी है, उसका आनन्द भी उतना ही गभीर है। सम्राटकी साम्राज्य-रचना वृहत् दुःख और वृहत् आनन्द है, देशभक्तका देशको प्राण देकर गढ़ना परम आनन्द है। ज्ञानीकी ज्ञान-प्राप्ति, प्रेमीकी प्रिय-साधना भी ऐसी ही है।

ईसाई-शास्त्रका कहना है कि 'ईश्वरने मानवके घर जन्म लेकर वेदनाका भार वहन किया था और दुःखका कण्टक-किरीट मस्तकपर रखा था। मनुष्यकी

नितान्त अपनी वस्तु ही जो दुःख है, प्रेमके द्वारा उस दुःखको अपना बनाकर ईश्वर भी इस दुःखके संगममें मनुष्यके साथ आ मिले हैं। दुःखको उन्होंने असीम मुक्ति और आनन्दमें पहुँचा दिया है। यही ईसाई-धर्मका मर्म है।

हमारे देशमें भी किसी सम्प्रदायके साधकोंने ईश्वरको दुःख-दारुण भीषण मूर्तिमें 'मा' कहकर पुकारा है। इस मूर्तिको वाह्यतः कहीं भी उन्होंने मधुर या कोमल, शोभन या सुखकर बनानेकी लेशमात्र चेष्टा नहीं की। संहार-रूपको ही वे जननी-रूपमें अनुभव किया करते हैं। इस संहारकी विभीषिकामें ही वे शक्ति और शिवके सम्मिलनको प्रत्यक्ष करनेकी साधना करते हैं।

शक्ति और भक्तिमें जो कमजोर हैं वे केवल सुख-स्वाच्छन्द्य और शोभा-सम्पदमें ही ईश्वरका सत्य-रूपमें आविर्भाव अनुभव करना चाहते हैं। उनका कहना है कि 'धन-मान ही ईश्वरका प्रसाद है, सौन्दर्य ही ईश्वरकी मूर्ति है, संसार-सुखकी सफलता ही ईश्वरका आशीर्वाद है और यही पुण्यका पुरस्कार है।' ईश्वरकी दयाको वे अत्यन्त करुण और कोमलकान्त-रूपमें देखते हैं। इसीलिए ऐसे दुर्बलचित्त सुखके पुजारी लोग ईश्वरकी दयाको अपने लोभ मोह और भीरुताका अवलम्बन मानकर उसे क्षुद्र और खण्डित-रूपमें जानते हैं।

किन्तु, हे भीषण, तुम्हारी दया और तुम्हारे आनन्दको हम कहाँ सीमा-बद्ध करें? केवल सुखमें, केवल सम्पद्में, केवल जीवनमें और केवल निरापद निरातङ्कतामें? दुःख मृत्यु और भयको क्या तुमसे पृथक करके तुम्हारे विरुद्ध खड़ा करके जानना होगा? कदापि नहीं। हे पिता, तुम ही दुःख हो, तुम ही विपद् हो, हे माता, तुम ही मृत्यु हो, तुम ही भय हो। तुम ही 'भयानां भयं भीषणं भीषणानां' हो।

"लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात् लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णोः॥"

'समग्र लोकको तुम अपने ज्वलत् वदनके द्वारा ग्रास करते-हुए लेहन कर रहे हो। समस्त जगत्को तेजके द्वारा परिपूर्ण करके, हे विष्णु, तुम्हारी उग्र ज्योति प्रतप्त हो रही है।' हे रुद्र, तुम्हारा ही दुःख-रूप और मृत्यु-रूप देखकर ही हम दुःख और मृत्युके मोहसे निष्कृति पाकर तुम्हींको प्राप्त करते हैं। नहीं तो,

मारे भयके सबको इस विश्वमें कापुरुषोंकी तरह परिभ्रमण करना पड़े, सत्यके आगे कोई भी निःसंशय होकर अपनेको सम्पूर्णतः समर्पित करनेमें समर्थ न हो। जब हमारी ऐसी दशा होती है तब हम क्या करते हैं? तब हम तुम्हें 'दयामय' कहके तुमसे दया चाहते हैं, तुम्हारे समक्ष तुम्हारे ही विरुद्ध अभियोग लाते हैं, और तुम्हारे हाथसे अपनी रक्षा पानेके लिए तुम्हारे ही आगे रोते हैं। किन्तु, हे प्रचण्ड, हम तुमसे उस शक्तिके लिए प्रार्थना करते हैं जिससे तुम्हारी दयाको हम अपनी दुर्बलतासे अपने आराम और अपनी क्षुद्रताके लिए उपयोगी बनानेकी कल्पना न करें, तुम्हें असम्पूर्ण-रूपसे ग्रहण करके अपनेको प्रवंचित न करें। अब हम कम्पित हृत्पिण्ड लेकर अश्रुसिक्त नेत्रोंसे तुम्हें 'दयामय' कहके अपनेको प्रवंचित नहीं करेंगे। तुम जो मनुष्यको युग-युगमें असत्यसे सत्यमें अन्धकारसे ज्यतिमें और मृत्युसे अमृतमें उद्धार कर रहे हो, वह उद्धारका पथ तो आरामका पथ नहीं है, वह परम दुःखका पथ है। मनुष्यकी अन्तरात्मा प्रार्थना कर रही है, "आविरावीर्म एधि।" 'हे आविः, तुम मेरे आगे आविर्भूत होओ।' यह प्रकाश तो सहज नहीं है। यह जो प्राणान्तिक प्रकाश है! असत्य जो अपनेको दग्ध करके तब कहीं सत्यमें उज्ज्वल हो उठता है, अन्धकार जो अपनेको विसर्जित करके तब कहीं ज्योतिमें परिपूर्ण हो उठता है, और मृत्यु जो अपनेको विदीर्ण करके तब कहीं अमृतमें प्रस्फुटित हो उठती है! हे आविः, मनुष्यके ज्ञानमें, मनुष्यके कर्ममें, मनुष्यके समाजमें तुम्हारा आविर्भाव ऐसे ही है। इसीलिए ऋषियोंने तुम्हें करुणामय करके व्यर्थ सम्बोधित नहीं किया। इसीलिए ऋषियोंने तुम्हें कहा है, "रुद्र, यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्।" 'हे रुद्र, तुम्हारा जो प्रसन्न मुख है उसके द्वारा तुम हमारी रक्षा करो।'—

हे रुद्र, तुम्हारी ओरसे हमारी जो रक्षा है, वह भयसे रक्षा नहीं, विपदसे रक्षा नहीं, मृत्युसे रक्षा नहीं, वह तो जड़तासे रक्षा है, व्यर्थतासे रक्षा है, तुम्हारे अप्रकाशसे रक्षा है। हे रुद्र, तुम्हारा प्रसन्न मुख हम कब देखते हैं जब कि हम धनके विलासमें लालित, मानके मदमें मत्त, ख्यातिके अहंकारमें आत्मविस्मृत और निरापद अकर्मण्यतामें सुख-सुप्त होते हैं तब? नहीं, कदापि नहीं। जब हम अज्ञान और अन्यायके विरुद्ध खड़े होते हैं, जब हम भयकी आशंकासे सत्यको

लेशमात्र अस्वीकार नहीं करते, जब हम दुरूह और अप्रिय कार्यको ग्रहण करनेमें भी कुण्ठित नहीं होते, जब हम किसी भी सुविधा और शासनको तुमसे बड़ा नहीं मानते, तभी, हे रुद्र, वध आघात अपमान दारिद्रता और दुर्योगमें तुम्हारे प्रसन्न मुखकी ज्योति हमारे जीवनको महिमान्वित कर देती है। तब दुःख और मृत्यु, विघ्न और विपत्ति ही प्रबल संघातके द्वारा तुम्हारी प्रचण्ड आनन्द-भेरी ध्वनित करके हमारे सम्पूर्ण चित्तको जागरित कर देती है। नहीं तो सुखमें हमारे लिए सुख नहीं, धनमें हमारा मंगल नहीं, आलस्यमें हमारे लिए विश्राम नहीं। हे भयंकर, हे प्रलयंकर, हे शंकर, हे मयस्कर, हे पिता, हे बन्धु, तुम हमें आशीर्वाद दो कि हममें उत्तरोत्तर ऐसी शक्ति विकशित होती रहे जिससे कि हम अपने अन्तःकरणकी सम्पूर्ण जाग्रत शक्तिसे, उद्यत चेष्टासे, अपराजित चित्तसे, भय दुःख और मृत्युमें तुम्हें सम्पूर्ण रूपसे ग्रहण कर सकें, किसी भी अवस्थामें कुण्ठित और अभिभूत न हों। जगाओ, हे, जगाओ! जो व्यक्ति और जो जातियाँ अपनी शक्ति और धन-सम्पदाको ही जगत्का सबसे बड़ा श्रेय समझकर अन्धी हो उठी हैं, उन्हें प्रलयके बीच एक क्षणके लिए जब तुम जगा दोगे, तब, हे रुद्र, उस उद्धत ऐश्वर्यकी दीर्ण-विदीर्ण प्राचीरको भेदकर तुम्हारी जो ज्योति विकीर्णित होगी उसे हम सौभाग्य समझ सकें, और जो व्यक्ति और जो जातियाँ अपनी शक्ति सम्पद्का बिलकुल ही-अविश्वास करके जड़ता दीनता और अवमाननामें निर्जीव निश्चेष्ट हुई पड़ी हैं उन्हें जब दुर्भिक्ष और महामारी विह्वल कर देगी, और प्रबलके अन्याय-अत्याचार आघातपर आघात करके जब उनकी अस्थि-मज्जा तक प्रकम्पित कर देंगे, तब तुम्हारे उस दुःसह दुर्दिनके आगे हम अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पण करके उसका सम्मान कर सकें; और तुम्हारे उस भीषण आविर्भावके सामने खड़े होकर कह सकें—"आविरावीर्म एधि। रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्।"

दरिद्रता हमें भिक्षुक न बनाकर दुर्गम पथका पथिक बना दे, दुर्भिक्ष और महामारी हमें मृत्युमें न डुबोकर सचेष्टतर जीवनकी ओर आकर्षित करती रहे। दुःख हमारी शक्तिका कारण हो, शोक हमारी मुक्तिका कारण हो, और लोक-भय राज-भय और मृत्यु-भय हमारी विजयका कारण हो। संकट-विपदकी

कठोर परीक्षामें हमारा मनुष्यत्व सम्पूर्णतः उत्तीर्ण होनेपर ही, हे रुद्र, तुम्हारा दक्षिण मुख हमारा परित्राण करेगा ; अन्यथा, अशक्तके प्रति अनुग्रह, अलसके प्रति प्रश्रय और भीरुके प्रति दया कदापि परित्राणका कारण नहीं हो सकती। कारण, वह दया ही दुर्गति है, वह दया ही अवमानना है, और, हे महाराज, वह दया तुम्हारी दया नहीं है।

वि०सं०१९६४]

शान्तं शिवमद्वैतम्

अनन्त विश्वमें प्रचण्ड शक्ति-संघ दसों दिशाओंमें दौड़ रहा है ; और जो 'शान्तं' हैं उन्होंने केन्द्रस्थलमें ध्रुव होकर अच्छेद्य शक्तिकी बागडोरसे सबको बाँध रखा है। कोई किसीको अतिक्रम नहीं कर रहा है। मृत्यु चारों ओर संचरण कर रही है किन्तु कुछ भी ध्वंस नहीं कर रही, जगत्‌की समस्त चेष्टाएँ अपने-अपने स्थानमें एकमात्र प्रबल हैं किन्तु उन सबमें आश्चर्यजनक सामंजस्य घटित होकर अनन्त आकाशमें निरन्तर विपुल सौन्दर्यका विकाश हो रहा है। कितने उतार-चढ़ाव और कितने बनाव-बिगाड़ हो रहे हैं, कितनी मार-काट और क्रान्तियाँ हो रही हैं, किन्तु फिर भी इस विश्वकी चिरनवीन मुखच्छविमें कोटि-कोटि वर्षोंके अविश्राम आघात-चिह्न कहीं नहीं दिखाई देते ! संसारके अनन्त चलाचल और अनन्त कोलाहलके मर्मस्थलसे नित्यकाल एक ही मन्त्र ध्वनित हो रहा है, 'शान्तिः शान्तिः शान्तिः'। जो 'शान्तं' हैं उन्हींकी आनन्द-मूर्ति चराचरके महासिंहासनपर ध्रुव-रूपमें प्रतिष्ठित है।

हमारी अन्तरात्मामें भी वह शान्त-स्वरूप जो नित्य विराज रहा है, उसका साक्षात्कार कैसे हो ? उस शान्त-स्वरूपकी उपासना कैसे की जाय ? उसका शान्त स्वरूप हमारी अन्तरात्मामें कब प्रगट होगा ? हम स्वयं जब शान्त होंगे तभी उस शान्तस्वरूपका आविर्भाव हमारे लिए सुस्पष्ट होगा। हमारी अतिक्षुद्र अशान्तिसे संसारका कितना-कुछ आच्छन्न हो जाता है, सो क्या हमने कभी लक्ष्य करके नहीं देखा ? निभृत निर्जन नदी-तटपर प्रशान्त

सन्ध्याकालमें हममेंसे दो जने यदि कलह करें, तो सायाह्नकी उस अपरिमेय नीरवताको, जो हमारे पाँवके नीचेके तिनकासे लेकर सुदूरतम नक्षत्रलोक तक व्याप्त है, मात्र दो अतिक्षुद्र व्यक्तिके अतिक्षुद्र कण्ठके कलवरमें, हम उसे अनुभव नहीं कर सकते। मेरे अपने मनके किंचित्मात्र भयसे जगत्-चराचर विभीषिकामय हो उठता है, मेरे अपने मनके किंचित्मात्र लोभसे मेरी दृष्टिमें इस विशाल संसारकी मुखश्रीमें मानो विकार दिखाई देने लगता है। इसीलिए मेरा कहना है कि जो 'शान्तं' हैं उन्हें सत्य-रूपमें अनुभव कैसे करेंगे, यदि हम स्वयं शान्त न हों? हमारे अन्तःकरणका चाञ्चल्य केवल अपनी तरंगोंको ही बड़े रूपमें दिखाता है, उसीका कल्लोल विश्वकी अन्तरतम वाणीको आच्छन्न कर देता है। हमारी नाना प्रवित्तियाँ नाना दिशाओंमें जो उद्दाम होकर दौड़ रही हैं, हमारे मनको वे कभी इस पथसे तो कभी उस पथसे तोड़-मोड़कर छीन-झपटकर लिये जा रही हैं। इन सबको दृढ़ रश्मिसे संयत करके सामंजस्यके नियममें बाँधकर स्वयं अपने अन्तःकरणमें कर्तृत्व प्राप्त कर लेनेसे ही, इस विश्व-चराचरमें जो 'शान्तं' हैं उनकी उपासना और उपलब्धि सम्भव हो सकती है।

जीवनके ह्रास और शक्तिके अभावको हम शान्ति समझ लेते हैं; किन्तु जीवन-विहीन शान्ति तो मृत्यु है, शक्ति-हीन शान्ति तो लुप्ति है। समस्त जीवनकी सम्पूर्ण शक्तिके अचल-प्रतिष्ठित आधार-स्वरूप जो विराज रहे हैं वे ही शान्ति हैं; अदृश्य रहकर समस्त सुरोंको जो संगीतमें परिणत कर रहे हैं और समस्त घटनाओंको जो इतिहास बनाये दे रहे हैं, एकके साथ अन्यके जो सेतु हैं, दिन-रात्रि मास-पक्ष ऋतु-संवत्सर चलते-हुए भी जिनके द्वारा विधृत हैं, वे ही 'शान्तम्' हैं। अपनी शक्तिको जो साधक विक्षिप्त न करके धारण कर सके हैं उनके लिए ये परम-शान्तस्वरूप प्रत्यक्ष हैं।

वाष्प ही गाड़ी चलाता हो सो बात नहीं, किन्तु वाष्पको जो स्थिरबुद्धि लौहश्रृङ्खलमें आबद्ध करता है वही गाड़ी चलाता है। गाड़ीकी मशीन चलती है, गाड़ीके पहिये घूमते हैं, फिर भी गाड़ीमें गाड़ीका चलना ही चालक नहीं है, किन्तु चालक वही है जो सब-कुछ चलनेके बीच अचल हुआ बैठा है और उसके यथेष्ट-परिमाणमें चलनेको यथेष्ट-परिमाणमें न-चलानेके द्वारा प्रतिक्षण

स्थिरताके साथ नियमित कर रहा है। किसी एक विशाल कारखानेमें यदि कोई अज्ञ व्यक्ति पहुँच जाय, तो वह समझेगा कि यह तो कोई दानवीय काण्ड है ; चक्रोंका प्रत्येक आवर्तन, लौहदण्डोंका प्रत्येक आस्फालन और वाष्पपुञ्जका प्रत्येक उच्छ्वास उसके मनको विभ्रान्त करता रहेगा। किन्तु, अभिज्ञ व्यक्ति इन सब हलचलोंकी जड़में एक स्थिर शान्तिको देखेगा, क्योंकि वह जानता है कि उसमें भयको अभय कौन कर रहा है, शक्तिको सफल कौन कर रहा है, उसकी गतिमें स्थिति कहाँ है और कार्यका परिमाण क्या है। वह जानता है कि यह शक्ति जिसके आश्रित चल रही है वह शान्ति है और जहाँ इस शक्तिका सार्थक परिणाम है वहाँ भी शान्ति है। उस शान्तिमें समस्त गतियोंका और सम्पूर्ण शक्तिका तात्पर्य पाकर वह निर्भय होता है, आनन्दित होता है।

इस जगत्‌में जो प्रबल प्रचण्ड शक्ति केवल शक्ति-रूपमें ही विभीषिका है, 'शान्तं' ने उसीको फल और फूलसे, प्राण और सौन्दर्यसे मंगलमय कर रखा है। कारण, जो 'शान्तं' हैं वे ही 'शिवं' हैं। ये शान्तस्वरूप जगत्‌की समस्त उद्दाम शक्तियोंको धारण करके एक मंगललक्ष्यकी ओर लिये जा रहे हैं। शक्ति इस शान्तिमेंसे ही उद्‌गत और शान्तिके द्वारा ही विधृत होनेसे मंगल-रूपमें प्रकाशित है। वह धात्रीकी भाँति अनादिकालसे विनिद्र रहकर निखिल जगत्‌की प्रतिक्षण रक्षा कर रही है और वही सबके बीच आसीन होकर विश्व-संसारके छोटेसे लेकर बड़े तक प्रत्येक पदार्थको परस्परके साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध-बन्धनमें बाँध रही है। इस पृथिवीका एक-एक धूलिकण तक लाखों योजन दूरवर्ती सूर्य-चन्द्र-ग्रह-ताराओंके साथ नाड़ीके योगसे युक्त है। कोई भी किसीके लिए अनावश्यक नहीं है। एक विशाल परिवारके समान एक विराट कलेवरके रूपमें निखिल विश्व अपने प्रत्येक अंश-प्रत्यंश और प्रत्येक अणु-परमाणुओंमें होकर एक ही रक्षण-सूत्रमें, एक ही पालन-सूत्रमें गुँथा-हुआ है। वह रक्षणी-शक्ति, वह पालनी-शक्ति नाना मूर्तियाँ धर-धरकर जगत्‌में संचरण कर रही है। मृत्यु उसका एक रूप है, हानि उसका एक रूप है, दुःख उसका एक रूप है ; और मृत्यु, हानि और दुःखमें भी नई-नई प्रकाशकी लीलाएँ आनन्दमें अभिव्यक्त होती रहती हैं। जन्म-मृत्यु सुख-दुःख हानि-लाभ सबमें ही 'शिवं' शान्त-

रूपमें विराजमान हैं। अन्यथा यह सब भार एक क्षणके लिए भी वहन कौन करता? अन्यथा, आज जिसने सम्बन्ध-बन्धनके रूपमें सबको परस्पर एक दूसरेके प्रति आकर्षित कर रखा है, वह आघातोंके द्वारा सबको चकनाचूर कर डालता। जो आलिङ्गन है वही पीड़न हो उठता। आज सूर्य हमारा मंगल कर रहा है, ग्रह-नक्षत्र हमारा मंगल कर रहे हैं और जल-स्थल-आकाश हमारा मंगल कर रहे हैं। और, जिस विश्वके एक धूलिकणको भी हम नहीं जानते उसीके विराट प्राङ्गणमें हम घरके लड़कोंकी तरह निश्चिन्त मनसे खेल रहे हैं। यहाँ जैसे मैं सबका हूं, अन्य सब भी वैसे ही मेरे हैं। यह कैसे घटित हुआ? जो इस प्रश्नके एकमात्र उत्तर हैं वे निखिलके समस्त आकर्षण, समस्त सम्बन्ध, समस्त कर्ममें निगूढ़ निस्तब्ध होकर सबकी रक्षा कर रहे हैं। वे हैं 'शिवम्'।

इस शिव-स्वरूपकी सत्य-रूपमें उपलब्धि करनेके लिए हमें भी समस्त 'आशिव' का परिहार करके 'शिव' होना होगा, अर्थात् शुभ कर्ममें प्रवृत्त होना होगा। जैसे शक्ति-हीनतामें शान्ति नहीं है वैसे ही कर्म-हीनतामें भी कोई मंगलको नहीं पा सकता। औदासीन्यमें मंगल नहीं है। कर्म-समुद्रका मन्थन करके ही मंगलका अमृत प्राप्त किया जा सकता है। अच्छे-बुरेके द्वन्द्व देव-दैत्यके संघातके भीतरसे दुर्गम संसार-मार्गकी दुरूह वाधाएँ दूर करके तब कहीं उस मंगल-निकेतनके द्वारपर पहुंचा जा सकता है। शुभ कर्मोंकी साधना करके जब हम समस्त संकट-विपद और क्षति-क्षोभके ऊपर अपने अपराजित हृदयमें मंगलको धारण करेंगे, तभी हम जगत्के सकल कर्मोंके समस्त उत्थान-पतनमें सुस्पष्ट देख सकेंगे कि 'वे हैं, जो शान्तं हैं, शिवम् हैं।' तब फिर हम घोरतर दुर्लक्षण देखकर भी भय नहीं पायेंगे ; और नैराश्यके घनान्धकारमें जहाँ अपनी सम्पूर्ण शक्तिको परास्त होती देखेंगे वहाँ भी जानेंगे कि 'वे ही रक्षक हैं जो शिवम् हैं।' वे अद्वैतम् हैं। वे अद्वितीय हैं, वे एक हैं।

संसारके सब-कुछको पृथक करके, विचित्र करके, देखा या गिना जाय तो बुद्धि अभिभूत हो जाती है, हमें हार माननी पड़ती है। फिर भी तो संख्याके अतीत इस वैचित्र्यके महासमुद्रमें हम पागल नहीं हुए हैं, हम तो विचार कर सकते हैं और अतिक्षुद्र होनेपर भी तो हम इस अपरिसीम वैचित्र्यके साथ एक

व्यावहारिक सम्बन्ध स्थापित कर सके हैं। प्रत्येक धूलिकणके सम्बन्धमें हमें तो प्रतिक्षण स्वतन्त्र-रूपसे सोचना नहीं पड़ता, समस्त पृथिवीको ही तो हम एकसाथ ग्रहण कर लेते हैं, इसमें तो कोई बाधा नहीं होती। संसारमें कितनी वस्तुएँ हैं, कितने कार्य हैं, कितने मनुष्य हैं, न-जाने कितने लक्ष-कोटि विषय हैं जो हमारे ज्ञानमें प्रतिक्षण लदते रहते हैं, किन्तु उस बोझके भारसे हमारा हृदय-मन तो बिलकुल पिस नहीं जाता। क्यों नहीं पिस जाता? इसलिए कि समस्त गणनातीत विचित्रताओंमें ऐक्य संचार करनेवाले 'वे' जो हैं, जो एकमात्र हैं, जो अद्वैतम् हैं। हम सबको लेकर यदि यह 'एक' न होते, तो हममेंसे कोई किसीको कुछ भी जानता क्या? तो क्या हममें परस्पर किसी प्रकारका कोई भी आदान-प्रदान हो सकता था? तो क्या हम परस्परका भार और आघात-प्रतिघात एक क्षणके लिए भी सह सकते थे? अनेकमें ऐक्यका सन्धान पाते ही हमारी बुद्धिकी श्रान्ति दूर हो जाती है, 'पर' के साथ 'अपने' ऐक्यकी उपलब्धि होते ही हमारा हृदय आनन्दित हो उठता है। वास्तवमें प्रधानतः हमलोग जो-कुछ चाहते हैं उसका लक्ष्य ही है ऐक्य। हम धन चाहते हैं; कारण, एक धनमें छोटे-बड़े अनेकानेक विषयोंने ऐक्य पाया है, इसलिए उस धनसे अनेक विषयोंको प्रतिदिन पृथक्-पृथक् संग्रह करनेका दुःख और विच्छिन्नता दूर होती है। हम ख्याति चाहते हैं; कारण, ख्यातिसे नाना लोगोंके साथ हमारा सम्बन्ध बिलकुल बँध जाता है; जिसकी ख्याति नहीं, मानो वह अन्य सबोंसे पृथक है। हम जरा गहराईके साथ सोच देखें तो सहज ही समझ जायेंगे कि जहाँ पार्थक्य है वहीं मनुष्यके लिए दुःख है, वहीं क्लान्ति है; कारण, मनुष्यकी सीमा वहीं है। जो आत्मीय हैं उनका सङ्ग हमें श्रान्त नहीं करता; जो बन्धु हैं वे हमारे चित्तको प्रतिहत नहीं करते; जिनको हम अपना नहीं समझते वे ही हमें बाधा पहुँचाते हैं, वे ही हमें या-तो अभावका या विरोधका कष्ट देकर कुछ-न-कुछ पीड़ित करते रहते हैं। संसारमें सब तरहके मिलन और सम्बन्धमें ऐक्यका बोध होते ही हम जो आनन्दका अनुभव करते हैं, उसमें उस 'अद्वैत' का ही निर्देश होता है। हमारी समस्त आकांक्षाओंके मूलमें ज्ञात या अज्ञातमें उस अद्वैतका ही सन्धान

रहता है। वह अद्वैत ही आनन्द है। ऐसे जो अद्वैत हैं, उनकी उपासना हम कैसे करें? उनकी उपासना हम करें परको अपना बनाकर, अहमिकाको निर्मूल करके, विरोधके कण्टकको उखाड़कर और प्रेमको प्रशस्त करके।

"आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति।" 'समस्त प्राणियोंको जो अपने समान देखते हैं वे ही यथार्थ देखते हैं।' कारण, वे संसारके समस्त पार्थक्योंमें परम सत्य जो अद्वैत हैं उन्हींको देखते हैं। जब हम अन्य किसीपर आघात करनेकी सोचते हैं तब उस अद्वैतकी उपलब्धिको हम खो बैठते हैं, इसीलिए उसमें हम दूसरेको दुःख देते हैं और स्वयं दुःख पाते हैं। जब हम अपने स्वार्थकी ओर देखते हैं तब वे 'अद्वैतं' हमसे प्रच्छन्न रहते हैं, इसीलिए स्वार्थकी साधनामें इतना मोह, इतना दुःख है! ज्ञान कर्म और प्रेममें 'शान्त' 'शिव' और 'अद्वैत' की उपलब्धि करनेका एक उपाय उपनिषदके एक मन्त्रमें बताया गया है, वह मन्त्र है, 'शान्तं शिवमद्वैतम्'। इस मन्त्रमें जो गूढ़ भाव निहित है उसकी आलोचनासे हम बहुत-कुछ जान सकते हैं।

पहले हैं, 'शान्तम्'। आरम्भमें ही संसारकी विचित्र शक्तिपर मनुष्यकी दृष्टि पड़ती है। जब तक शान्तिमें उसकी पर्याप्ति नहीं देख पाते तब तक कितना भय, कितना संशय और कितनी निराधार कल्पनाएँ होती रहती हैं! किन्तु समस्त शक्तियोंके मूलमें जब हम अमोघ नियमोंमें 'शान्तम्' को देखते हैं तब हमारी कल्पनाओंको शान्ति मिलती है। शक्तिमें वे नियम-स्वरूप हैं; वे 'शान्तम्' हैं। मनुष्य अपने अन्तःकरणमें भी प्रवृत्ति-रूपिणी अनेक शक्तियाँ लेकर संसारमें प्रवेश करता है; और जब तक उनपर वह अपना कर्तृत्व प्राप्त नहीं कर लेता तब तक पद-पदपर उसे संकटोंका सामना करना पड़ता है और उसके दुःखकी सीमा नहीं रहती। अतएव, इन सब शक्तियोंको शान्तिमें संवरित और संयमित करते रहना ही इस मनुष्य-जीवनका सर्वप्रथम कार्य है। इस साधनामें सिद्धि पानेके बाद हम जल-स्थल-आकाशमें उस शान्तस्वरूपको देखेंगे जो जगतकी असंख्य शक्तियोंको नियमित करके अनादि-अनन्त काल स्थिर हैं। इसीलिए हमारे जीवनका प्रथम आश्रम है ब्रह्मचर्य; शक्तिमें शान्ति-लाभकी साधना।

फिर हैं 'शिवम्' । संयमके द्वारा शक्तिको अपने आयत्तमें लानेपर ही कर्म करना सहज होता है । इस प्रकार जब कर्म आरम्भ करते हैं तब हमें नाना लोगोंके साथ नाना सम्बन्धोंसे जड़ित हो जाना पड़ता है । और इस आत्म-परके संस्रवमें ही सारी भलाई-बुराई है, सारा पाप-पुण्य है, सब तरहके आघात-प्रतिघात हैं । शान्ति जैसे शक्तियोंको यथोचित-रूपसे संवरण करके उनका विरोध मिटा देती है वैसे संसारसे आत्म-परके शत-सहस्र सम्बन्धोंकी अपरिसीम नाना जटिलताओंमें सामंजस्य कौन स्थापित करता है ? मङ्गल । शान्तिके अभावमें जगत्प्रकृतिका प्रलय है, मंगल न हो तो मानव-समाजका ध्वंस है । शान्तिकी हमें शक्तिमय जगत्में उपलब्धि करनी होगी । उनके शान्त-स्वरूपको ज्ञानके द्वारा और शिव-स्वरूपको शुभ कर्मके द्वारा हमें अपने मनमें धारण करना होगा । हमारे शास्त्रोंमें विधान है कि 'पहले ब्रह्मचर्य, फिर गार्हस्थ्य ; पहले शिक्षाके द्वारा प्रस्तुत होना, फिर कर्मके द्वारा परिपक्व होना । पहले 'शान्तं', फिर 'शिवम्' ।

उसके बाद 'अद्वैतम्' । यहीं समाप्ति है ; शिक्षामें भी समाप्ति नहीं, कर्ममें भी समाप्ति नहीं । हम क्यों तो सीखें और क्यों परिश्रम करें ? कहीं भी तो उसका एक परिणाम होगा ? वह परिणाम अद्वैत है । वही निरवच्छिन्न प्रेम है और वही निर्विकार आनन्द है । मंगल-कर्मकी साधनासे जब हमारे समस्त बन्धनोंका क्षय हो जाता है, अहंकारकी तीव्रता जब नष्ट होनेकी दिशामें होती है और आत्म-परके समस्त सम्बन्धोंका विरोध जब मिट जाता है, तभी नम्रताके द्वारा, क्षमाके द्वारा, करुणाके द्वारा प्रेमका पथ प्रस्तुत होता रहता है । तब 'अद्वैतम्' है, तब समस्त साधनाओंकी सिद्धि है, समस्त कर्मोंका अवसान है ; कहीं भी फिर वह असंगत असमाप्त और अर्थहीन नहीं रहता ।

हे परमात्मन्, मानव-जीवनकी समस्त प्रार्थनाओंके अभ्यन्तरमें एकमात्र गभीरतम जो प्रार्थना है उसे हम समझें या न समझें, मुँहसे कहें या न कहें, हमारे समस्त भ्रमों और दुःखोंमें भी हमारी अन्तरात्मासे वही प्रार्थना सर्वदा तुम्हारे अभिमुख होनेका पथ ढूंढ़ती चली जा रही है । वह प्रार्थना यह है कि हम अपने सम्पूर्ण ज्ञानके द्वारा शान्तको जान सकें, अपने समस्त कर्मके द्वारा

शिवको देख सकें, अपने सम्पूर्ण प्रेमके द्वारा अद्वैतकी उपलब्धि कर सकें। इतना हममें साहस नहीं कि अपनी फल-लाभकी प्रत्याशाको तुम्हारे आगे व्यक्त कर सकें, किन्तु हमारी आकांक्षा केवल इतनी ही है कि समस्त विघ्न-विक्षेप-विकृतिओंमें भी हम अपनी इस प्रार्थनाको सम्पूर्ण शक्तिके साथ सत्य-रूपमें तुम्हारे आगे उपस्थित कर सकें। अन्य समस्त वासनाओंको व्यर्थ करके, हे अन्तर्यामिन्, हमारी इस प्रार्थनाको ही ग्रहण करो कि हम अपने ज्ञानमें, अपने कर्ममें, अपने प्रेममें, इस बातकी उपलब्धि कर सकें कि तुम शान्तं शिवम् अद्वैतम् हो।

—

[वि० सं० १९६३

ततः किम्

आहार-संग्रह और आत्म-रक्षा करते-हुए जीवित रहना सीख लेनेसे ही पशु-पक्षियोंका सीखना पूरा हो जाता है; वे जीव-लीला सम्पन्न करनेके लिए तैयार हो जाते हैं। किन्तु मनुष्य केवल जीव नहीं है, वह सामाजिक जीव है। इसलिए जीवन-धारण करना और समाजके लिए प्रस्तुत होना, इन दोनों बातोंके लिए उसे प्रस्तुत होना पड़ता है। किन्तु 'समाजिक जीव' कहनेसे ही मनुष्यकी सब बात पूरी नहीं होती। मनुष्यको आत्माके रूपमें देखा जाय तो समाजमें उसका अन्त नहीं मिलता। जिन्होंने मनुष्यको इस रूपमें देखा है उन्होंने कहा है, 'आत्मानं विद्धि', 'आत्माको जानो।' आत्माकी अनुभूति-उपलब्धि करनेको उन्होंने मनुष्यकी चरम सिद्धि माना है।

नीचेकी सीढ़ियाँ बराबर ऊपरकी सीढ़ियोंके अनुगत होती हैं। सामाजिक जीवके लिए केवल एक जीव-लाला ही समाज-धर्मकी अनुवर्तिनी होती है। भूख लगते ही खाना जीवकी प्रवृत्ति है, किन्तु सामाजिक जीवको उस आदिम प्रवृत्तिको दबाकर चलना पड़ता है। समाजकी ओर देखकर बहुधा हम भूख-प्यासकी उपेक्षा करनेको ही 'धर्म' कहते हैं। यहाँ तक कि समाजके लिए प्राण दे देना भी, अर्थात् जीव-धर्मका त्याग देना भी, हमारे यहाँ धर्म समझा जाता है। इस तरह हम देख सकते हैं कि जीव-धर्मको संयत करके उसे समाज-धर्मके अनुकूल करना ही सामाजिक जीवकी शिक्षाका प्रधान कार्य है।

किन्तु मनुष्यके सत्यको जो लोग इतनेमें ही सीमाबद्ध न करके परिपूर्ण रूपसे उपलब्धि करनेकी इच्छा करते हैं वे जीव-धर्म और समाज-धर्म दोनोंको ही उस आत्म-उपलब्धिके अनुगत करनेकी साधनाको शिक्षा मानते हैं। इसे एक वाक्यमें कहा जाय तो कहना होगा कि मानवात्माकी मुक्ति ही उनकी दृष्टिमें मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है ; जीवन-धारण और समाज-रक्षाके समस्त लक्ष्य ही इसके अनुवर्ती हैं। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि 'मनुष्य'का अर्थ जिसने जैसा समझा है वह उसीके अनुसार मनुष्यकी शिक्षा प्रवर्तन करना चाहता है ; कारण, मनुष्यको मनुष्य बना देनेका नाम ही शिक्षा है।

हम प्राचीन संहिताओंमें विद्यार्थियोंकी शिक्षाका जो आदर्श देखते हैं, वह कबसे और कहाँ तक देशमें प्रचलित हुआ था, इसका ऐतिहासिक विचार करनेमें हम असमर्थ हैं। किन्तु कमसे कम इतना तो निःसंशय होकर कहा जा सकता है कि उस समय जो समाजके नियन्ता थे उनके मनमें शिक्षाका उद्देश्य क्या था, वे मनुष्यको क्या समझते थे और उस मनुष्यको योग्य बनानेके लिए किन उपायोंको उन्होंने सबसे अधिक उपयुक्त समझा था।

'संसारमें कुछ भी नित्य नहीं है, अतएव संसार असार है, अपवित्र है, और उसे त्याग देना ही श्रेय है'—इस तरहके वैराग्य-धर्मकी श्रेष्ठताका प्रचार मध्ययुगमें युरोपके साधुगण किया करते थे। तब वहाँ संन्यासियोंका प्रादुर्भाव यथेष्ट था। किन्तु इस समयके युरोपका भाव यह है कि 'संसारमें कुछ नहीं' कहकर मनुष्यकी प्रवृत्तिमें और निवृत्तिमें एक तरहका चिरस्थायी देवासुरका-सा झगड़ा बनाये रखना मनुष्यको छोटा करना है। संसारका हित करना ही संसारीके जीवनका अन्तिम लक्ष्य है, और यही धर्म-नीति है। इस धर्मनीतिका प्रबल-रूपसे आश्रय लेना हो तो संसारको माया कहकर उड़ा देनेसे काम नहीं चल सकता। इस संसार-क्षेत्रमें जीवनके अन्तिम क्षण तक पूरे जोरके साथ काम करते जाना ही वीरत्व है। और इस तरह जुते-हुए घोड़ेकी लगाम-शुदा अवस्थामें ही मरना अर्थात् काममें विराम बिना दिये ही जीवनको समाप्त कर देना ही युरोपीय लोगोंमें गौरवका विषय माना जाता है।

'संसार अनित्य है'—इस बातको भूलकर, और 'मृत्यु अनिवार्य है'—इस

बातको मनमें पोषण न करके, संसारके साथ चिरन्तन-सम्बन्ध-स्थापनकी चेष्टा करनेमें युरोपीय जातियोंने एक विशेष प्रकारका बल प्राप्त किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसकी जो विपरीत अवस्था है उसे ये लोग 'मॉरबिड' अर्थात् रुग्न-अवस्था कहते हैं। इसलिए इनकी शिक्षाका उद्देश्य यह है कि छात्र इस तरह आदमी बनें जिससे वे अन्त तक प्राण-पण बलसे संसारके कर्मक्षेत्रमें लड़ सकें। कारण, जीवनको ये लोग 'संग्राम' मानते हैं। विज्ञान भी इन्हें यही शिक्षा देता है कि 'जीविकाकी लड़ाईमें जो लोग जीतते हैं वे ही संसारमें टिके रहते हैं।' एक तरफ तो ये अपने इस गृध्नुभावको कि 'चाहिए ही चाहिए, नहीं तो कुछ नहीं' खूब सतेज बनाये रखनेकी चेष्टा करते हैं और दूसरी ओर अपनी मुष्टिको भी ये खूब मजबूत किये ताने रहते हैं। चारों तरफसे खूब सम्हल-सम्हलाकर, रस्सा-कसी करके, दसों उंगलियोंसे खूब कसके पकड़े रहना भी ये लोग खूब जानते हैं। 'पृथिवीको किसी भी अंशमें और किसी भी तरह नहीं छोड़ेंगे' यह बात खूब जोरके साथ कहते-कहते जमीनमें दाँत गड़ाकर मर जाना ही इनके यहाँ वीरताकी मौत समझी जाती है। 'सब जानेंगे, सब रखेंगे'—इस प्रणकी सार्थकता सिद्ध करनेकी शिक्षा ही इनकी शिक्षा है।

किन्तु भारतवर्ष कहता आया है, 'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।' 'मृत्युने चोटी पकड़ रखी है' ऐसा समझकर धर्मका आचरण करो। युरोपके संन्यासियोंने ऐसी बात न कही हो, सो बात नहीं; यहाँ तक कि संसारीको डरानेके लिए मृत्युकी विभीषिकाको उन्होंने साहित्यमें, चित्रोंमें और अन्यत्र नाना स्थानोंमें प्रत्यक्ष कर दिखानेकी भी चेष्टा की है। किन्तु हमारे यहाँकी प्राचीन संहिताओंमें जो भाव देखनेमें आता है उसमें एक विशेषता है।

संसारके साथ हमारे सम्बन्धका अन्त नहीं, ऐसा समझकर काम करनेसे अच्छा होता है या बुरा, यह तो पीछेकी बात है; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह बात मिथ्या है। इस संसारमें हमारे समस्त सम्बन्धोंका अवसान है, इतनी बड़ी सत्य बात और कुछ भी नहीं है। प्रयोजन-सिद्धिके लिए गाली-गलौजके साथ जबरन सत्यको मिथ्या कहके चलानेपर भी उससे काम हासिल होते देखा गया है। सोनेके राजदण्डको ही जो राजा चरम वस्तु समझता

है उसके हाथसे भी उस राजदण्डको अन्तमें मिट्टीमें मिलते देखा गया है। लोकालयमें प्रतिष्ठा प्राप्त करनेको ही जो व्यक्ति अपना एकमात्र लक्ष्य समझता आया है, समस्त जीवनकी समस्त चेष्टाओंके अन्तमें उसे भी उस लोकालयको छोड़कर अकेला जाते देखा है। बड़ी-बड़ी कीर्तियाँ लुप्त हो जाती हैं; और बड़ी-बड़ी जातियोंको भी उन्नतिके नाट्यमञ्चसे सहसा दीप बुझाकर विदा लेनी पड़ती है। ये सब बहुत पुरानी बातें हैं, किन्तु फिर भी जरा भी झूठ नहीं। सभी सम्बन्धोंका अवसान होता है; किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि अवसान होनेके पहले उन्हें अस्वीकार किया जा सकता है। अवसानके बाद जो असत्य है, अवसानके पहले तो वह सत्य है ही। जो जिस परिमाणमें सत्य है उसे उस परिमाणमें यदि न मानें, तो वह हमसे कान पकड़कर मनवा लेगा, नहीं तो किसी दिन किसी ओरसे हमसे ब्याज-समेत बदला ले लेगा।

छात्र विद्यालयमें हमेशा नहीं पढ़ते रहते, पढ़ाईका एक दिन तो अवसान होता ही है। किन्तु जितने दिन वह विद्यालयमें है उतने दिन यदि पढ़ाईको वह यथार्थ-रूपसे स्वीकार कर लेता है, तो उसकी पढ़ाईका अवसान वास्तविक होता है, और तभी विद्यालयसे निष्कृति उसके लिए सम्पूर्ण होती है। और यदि वह जबरदस्ती विद्यालयसे अवसर लेता है, तो हमेशाके लिए उसे अपनी असम्पूर्ण विद्याका फल भोगना पड़ता है। असलमें, पथ गम्यस्थान नहीं है, यह बात ठीक है; पथकी समाप्ति ही हमारा लक्ष्य है; किन्तु पहले पथको बिना भोगे उसकी समाप्ति ही असम्भव हो जाती है। इस तरह हम देखते हैं कि जगत्के सम्बन्धोंको हम ध्वंस नहीं कर सकते, उनके भीतरसे निकलकर उन्हें पार कर सकते हैं। अर्थात् समस्त सन्बन्ध जहाँ आकर मिले हैं वहाँ पहुंच सकते हैं। अतएव, ठीक तरहसे यह भीतरसे निकलकर पार होना ही साधना है; किसी भी सम्बन्धको 'नहीं है' कहकर विमुख होना ही साधना नहीं है। पथको यदि वैराग्यके जोरसे छोड़ दिया जाय, तो अपथमें तो सात-गुना चक्कर खाते फिरना होगा।

जर्मन महाकवि गेटेने अपने 'फॉस्ट' नाटकमें दिखाया है कि जो व्यक्ति मानव-प्रकृतिको उपवासी रखकर संसारकी लीलाभूमिसे बहुत ऊँचे एकान्तमें

बैठकर ज्ञान-संग्रह करनेमें प्रवृत्त हुआ था, संसारकी धूलमें पछाड़ खाकर गिरनेपर उसे कैसा कठोर ज्ञान प्राप्त हुआ था। मुक्तिके प्रति असमयमें व्यर्थका लोभ करके जितना हम धोखा देनेमें प्रवृत्त होंगे उतना तो हमें चुकाना ही पड़ेगा, ऊपरसे धोखेकी चेष्टाके लिए हमें अलग दण्ड भोगना पड़ेगा। असलमें ज्यादा जल्दबाजी करनेसे ही ज्यादा देर हो जाती है।

वस्तुका ग्रहण और वर्जन, बन्धन और वैराग्य — ये दोनों ही सत्य हैं। एकके भीतर अन्यका वास है, कोई भी किसीको छोड़कर सत्य नहीं है। दोनोंको यथार्थ-रूपसे मिला सकनेपर ही पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। शंकर त्यागकी और अन्नपूर्णा भोगकी मूर्ति हैं: दोनों मिलकर जब एकाङ्ग हो जाती हैं तभी पूर्णताका आनन्द है। हमारे जीवनमें जहाँ भी कहीं इन शिव और शिवानीका विच्छेद है, बन्धन और मुक्तिकी एकत्र प्रतिष्ठा नहीं है, और जहाँ कहीं भी अनुराग और विरागमें विरोध हुआ है, वहीं नाना प्रकारकी अशान्ति है, वहीं निरानन्द है। वहीं हम लेना चाहते हैं, देना नहीं चाहते ; वहीं हम अपनी ओर खींचते हैं, अन्यकी ओर नहीं देखते ; वहीं हम जिसका भोग करते हैं उसका अन्त नहीं देख पाते ; और अन्त देखते ही विधाताको धिक्कार देकर हाहाकार करते रहते हैं। वहीं कर्ममें हमारी प्रतियोगिता है, और धर्ममें भी हमारा विद्वेष है ; वहीं किसी बातका मानो स्वाभाविक परिणाम नहीं है, अपघात-मृत्युमें ही मानो सब-कुछका अकस्मात् विलोप है!

जीवनको न-हो-तो 'युद्ध' ही माने लेते हैं। किन्तु, इस युद्धके विषयमें यदि केवल व्यूह-प्रवेशकी विद्या ही हमने सीखी हो और व्यूहसे निकलनेका कौशल हमें न मालूम हो, तो सप्त रथी हमें जो घेरकर मार डालेंगे! इस तरह मरकर भी हम वीरता दिखा सकते हैं, किन्तु इसे तो विजय नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर, जो लोग व्यूहमें प्रवेश करनेसे ही विरत हैं, उन कापुरुषोंके लिए वीरगति नहीं है। प्रवेश करना और बाहर निकलना, इन दोनोंके द्वारा ही जीवनकी सार्थकता है।

प्राचीन संहिताकारोंने हर-गौरीको 'अभेदाङ्ग' करना चाहा था। विश्व-चराचर जिस ग्रहण और वर्जन, जिस आकर्षण और विप्रकर्षण, जिस केन्द्रानुग

और केन्द्रातिग, जिस स्त्री और पुरुष-भावके नियत सामंजस्यपर प्रतिष्ठा प्राप्त करके सत्य और सुन्दर हो उठा है, समाजको उन्होंने आदिसे लेकर अन्त तक सब तरफसे उसी वृहत् सामंजस्यपर प्रतिष्ठित करनेकी चेष्टा की थी। शिव और शक्ति, निवृत्ति और प्रवृत्तिका सम्मिलन ही समाजका एकमात्र मंगल है, और, शिव और शक्तिका विरोध ही समाजके समस्त अमंगलोंका कारण है, यही उनलोगोंने समझा था।

इस सामञ्जस्यका आश्रय लेना हो, तो सबसे पहले मनुष्यको सत्य-रूपसे देखना होगा। अर्थात्, उसे किसी एक विशेष प्रयोजनकी दिशासे देखनेसे काम नहीं चलेगा। यदि हम आमको खटाई खानेकी दिशासे ही देखें, तो उसे हम समग्र-रूपसे नहीं देखेंगे ; इसके लिए हम उसके स्वाभाविक परिणाममें वाधा पहुंचायेंगे ; उसे कच्चा तोड़कर उसकी गुठलीको ही मट्टी कर देंगे। वृक्षको यदि जलानेकी लकड़ीके रूपमें ही देखें, तो हम उसके फल-फूल-पत्तोंका कोई तात्पर्य ही न देख पायेंगे। इसी प्रकार मनुष्यको यदि हम राज्य-रक्षाका उपाय मान बैठें, तो उसे हम सैनिक बना देंगे ; और उसे यदि जातीय समृद्धि-वृद्धिका सेतु समझ लें, तो उसे हम वणिक् बनानेकी चेष्टा करेंगे ; और इस तरह, हम अपने आवहमान संस्कारोंके अनुसार, जिस किसीको भी संसारमें अपने लिए सर्वाधिक अभिलषित समझते हैं, मनुष्यको उसीके उपकरणके रूपमें देखेंगे, और उस प्रयोजन-साधनको ही मनुष्यकी सार्थकता समझने लगेंगे। इस तरह देखनेमें कोई हित ही नहीं सो बात नहीं, किन्तु सामञ्जस्य नष्ट होकर अन्तमें अहित जो आ जाता है। जिसे हम तारा समझकर आकाशमें उड़ाते हैं वह कुछ देर तक तो ठीक ताराके समान ही चमकता है, किन्तु उसके बाद जलकर राख होकर जमीनपर गिर जाता है।

हमारे देशमें किसी समय मनुष्यको समस्त प्रयोजनोंसे कितना बड़ा करके देखा जाता था, इसका परिचय चाणक्यके एक प्रचलित श्लोकमें मिलता है—

"त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥"

मनुष्यकी आत्मा कुलसे, ग्रामसे, देशसे, समस्त पृथिवीसे बड़ी है। कमसे

कम किसीसे छोटी नहीं है। पहले मनुष्यकी आत्माको इस प्रकारसे समस्त देशिक और क्षणिक प्रयोजनोंसे पृथक् करके विशुद्ध और बृहत् रूपमें देखना होगा, तभी संसारके समस्त प्रयोजनोंके साथ उसका सत्य-सम्बन्ध और जीवनके क्षेत्रमें उसका यथार्थ स्थान निर्णय करना सम्भव हो सकता है। हमारे देशमें ऐसा ही किया गया था। शास्त्रकारोंने मनुष्यकी आत्माको अत्यन्त बड़े रूपमें देखा था। मनुष्यकी मर्यादाकी कहीं सीमा नहीं है, ब्रह्ममें ही उसकी समाप्ति है। अन्य किसी भी रूपमें मनुष्यको शेष तक देख लो, वह देखना मिथ्या ही होगा। मनुष्यको नागरिक (सिटीज़न) के रूपमें देखो, किन्तु कहाँ नगर और कहाँ वह! उसे देशभक्त (पैट्रियॉट) के रूपमें देखो, किन्तु देशमें ही उसका शेष नहीं है, देश तो जलविम्ब है; और सारी पृथिवी ही ऐसी क्या है! भर्तृहरि, जो कभी राजा थे, कहते हैं—

"प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं, न्यस्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्!
सम्पादिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं, कल्पस्थितास्तनुभृतां तनवस्ततः किम्!"

'मान लो, सकल-काम्य-फलप्रद लक्ष्मीको ही प्राप्त कर लिया, तो उससे क्या हुआ! शत्रुओंके माथेपर पैर ही रख दिया, तो उससे क्या हुआ! विभवके बलसे अनेक सुहृद् ही प्राप्त कर लिये, तो उससे क्या हुआ! देहधारियोंकी देहोंको ही कल्पकाल तक बचाये रखा, तो उससे क्या हुआ!' तात्पर्य यह कि इन सब कामनाके विषयोंके द्वारा मनुष्यको छोटे रूपमें देखनेसे काम नहीं चलेगा, मनुष्य इनसे कहीं बड़ा है। मानवका सबसे बड़ा जो सत्य है, जो अनादिसे अनन्तके अभिमुख है, उसे स्मरण रखनेसे ही उसके जीवनको सज्ञान-रूपसे सम्पूर्णताके पथपर चलानेका उपाय किया जा सकता है। किन्तु मनुष्यको यदि केवल संसारका जीव ही मानने लगें, तो उसे हम संसारके प्रयोजनमें ही आबद्ध करके काट-छाँटकर छोटा बना लेंगे।

भारतवर्षके प्राचीन मनीषियोंने मनुष्यकी आत्माको बहुत बड़े रूपमें देखा था, इसीलिए उनकी जीवनयात्राका आदर्श युरोपसे बिलकुल स्वतन्त्र रहा है, वे अपने जीवनके शेष क्षण तक सांसारिक काममें पिसते रहने और उसी हालतमें मर जानेको गौरवका विषय नहीं समझते थे; कर्मको ही वे अन्तिम लक्ष्य न

मानकर कर्मके द्वारा कर्मको क्षय करनेको ही चरम साधनाका विषय समझते थे। आत्माकी मुक्ति ही प्रत्येक मनुष्यके लिए एकमात्र श्रेय है, इस विषयमें उन्हें कोई भी सन्देह नहीं था।

युरोपमें स्वाधीनताका गौरव सर्वदा ही गाया जाता है। उनकी इस स्वाधीनताका अर्थ है 'आहरण करनेकी स्वाधीनता, भोग करनेकी स्वाधीनता, काम करनेकी स्वाधीनता।' यह स्वाधीनता कोई मामूली चीज नहीं है, इस संसारमें इसकी रक्षा करनेमें बहुत शक्ति और बहुत आयोजनकी आवश्यकता होती है। किन्तु, प्राचीन भारतवर्षने इसके प्रति भी उपेक्षा करके कहा था, "ततः किम्!" इस स्वाधीनताको भारतवर्षने स्वाधीनता ही नहीं माना। भारतवर्षने कामनाके ऊपर और कर्मके ऊपर भी स्वाधीन होना चाहा था।

किन्तु, 'स्वाधीन हो गये' समझ लेनेसे ही स्वाधीन नहीं हुआ जा सकता, नियम अर्थात् अधीनताके भीतरसे बिना निकले स्वाधीन होना सम्भव नहीं। राष्ट्रीय स्वाधीनताको यदि बड़ी मान लें, तो सैनिकके रूपमें अधीन होना होगा, वणिकके रूपमें अधीन होना होगा। विलायती राष्ट्रोंके पास जो लाखों सैनिक हैं वे क्या स्वाधीन हैं? मनुष्यत्वको जो वहाँवालोंने मनुष्य-मार मशीन बना रखा है, वे तो सजीव तोप-बन्दूक मात्र हैं। वहाँ जो लाखों मजदूर खानोंके अन्ध-रसातलमें और कारखानोंके अग्निकुण्डमें रहकर वहाँकी राज्यश्रीके पाँवोंमें अपनी छातीके रक्तका महावर लगा रहे हैं वे क्या स्वाधीन हैं? वे तो निर्जीव यन्त्रके सजीव अङ्ग-प्रत्यङ्ग मात्र हैं। युरोप और अमेरिकामें स्वाधीनताका फल कितने लोग भोग रहे हैं? फिर स्वाधीनता कैसी? व्यक्ति-स्वातन्त्र्य वहाँ साधनाका विषय हो सकता है, किन्तु व्यक्तिकी परतन्त्रता क्या इतनी ज्यादा और कहीं देखी गई है? इसके उत्तरमें एक स्वतोविरोधी बात कहनी पड़ती है। परतन्त्रताके भीतरसे ही स्वतन्त्रताके आनेका पथ है। वाणिज्यमें जो जितनी बड़ी लाभकी रकम लाना चाहेगा उसे उतनी ही बड़ी पूँजी लगानी पड़ेगी। रकम कुछ भी न लगे और लाभ होता रहे, यह नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता भी ऐसी ही चीज है, विपुल परतन्त्रताकी पूँजी लगाकर तब कहीं स्वतन्त्रताका लाभ होता है। शुरूसे आखीर तक केवल लाभ ही लाभ हो, आद्यन्त सब स्वाधीनता ही हो, ऐसा कभी नहीं हो सकता।

हमारे देशमें भी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य साधनाका विषय था। किन्तु वह तो कोई छोटा-मोटा स्वातन्त्र्य नहीं था। उस स्वातन्त्र्यका आदर्श ठेठ आत्माकी मुक्तिसे जा लगा है। भारतवर्षने प्रत्येक व्यक्तिको जीवनके प्रतिदिनके भीतरसे, समाजके प्रत्येक सम्बन्धके भीतरसे उस मुक्तिका अधिकार देनेकी चेष्टा की है। युरोपमें जैसे कठोर परतन्त्रताके भीतरसे स्वतन्त्रताका विकाश हो रहा है, हमारे देशमें भी वैसे ही नियम-संयमके निविड़ बन्धनके भीतरसे मुक्तिका उपाय निर्दिष्ट हुआ है। उस मुक्तिके परिणामको लक्ष्यसे अलग करके यदि हम केवल नियम-संयमको ही एकान्त-रूपसे देखें, तो यह कहना ही होगा कि हमारे देशमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी खर्वता बहुत अधिक है।

असल बात यह है कि किसी देशके जब दुर्गतिके दिन आते हैं तब वह मुख्य वस्तुको खो देता है, और गौण ही तब जंजाल होकर उसकी जगह घेर लेता है; तब चिड़िया उड़ जाती है और पिंजड़ा पड़ा रह जाता है। हमारे देशमें भी यही हुआ है। हम अभी भी नाना प्रकारके बन्धन मानकर तो चलते हैं, किन्तु उसके परिणामके प्रति हमारा कतई लक्ष्य नहीं है। मुक्तिकी साधना हमारे मनमें है, हमारी इच्छामें नहीं है; और मजेकी बात यह कि उसके बन्धनोंको हम आपाद-मस्तक वहन करते फिरते हैं। इससे हमारे देशका जो मुक्तिका आदर्श है वह तो नष्ट हो ही रहा है, साथ ही युरोपका जो स्वाधीनताका आदर्श है उसके मार्गमें भी पद-पदपर बाधाएँ आ रही हैं। सात्विकताकी जो पूर्णता है उसे तो हम भूल गये हैं और राजसिकताका जो ऐश्वर्य है वह भी हमारे लिए दुर्लभ हो गया है। केवल तामसिकताका जो निरर्थक अभ्यासगत बोझ है उसीको वहन करते-हुए हमने अपनेको अकर्मण्य कर डाला है। अतएव, इस समय हमारी ओर देखकर यदि कोई कहे कि 'भारतवर्ष समाज-मनुष्यको केवल आचार-विचारोंके कठोर बन्धनमें बाँधनेका ही जाल है', तो अपने मनमें हम नाराज भले ही हों, पर जवाब देना कठिन है। तालाब जब सूख गया हो तब उसे यदि कोई गड्ढा कहे, तो, वह हमारी पैतृक सम्पत्ति होनेपर भी, हमें चुप रह जाना चाहिए। मतलब यह कि उस सरोवरकी पूर्णता किसी समय चाहे कितनी ही सुगभीर क्यों न रही हो, शुष्क अवस्थामें उसकी रिक्तताका गड्ढा भी उतना ही बड़ा कहलायेगा।

भारतवर्षमें भी मुक्तिका लक्ष्य किसी समय कितना अधिक सचेष्ट था, इस बातका परिचय आजके निरर्थक बन्धन और अनावश्यक अचार-विचारसे ही मिल जाता है। युरोपमें भी कालक्रमसे जब शक्तिका ह्रास होगा तब बन्धनके असह्य दबावसे ही उसकी पूर्वतन स्वतन्त्रताकी चेष्टाका परिमाप होगा। अभी भी क्या वह भार अनुभव करके असहिष्णु नहीं हो रहा है? अभी भी क्या उसका उपाय क्रमशः उद्देश्यको अतिक्रम कर जानेकी चेष्टा नहीं कर रहा है? किन्तु इस बहसको यहीं छोड़ते हैं। असल बात यह है कि यदि लक्ष्य सजग रहे, तो नियम-संयमका बन्धन ही मुक्तिका एकमात्र उपाय हो जाता है। भारतवर्षने किसी समय नियमोंके द्वारा समाजको खूब कसके बाँधा था। घोड़ेको उसका सवार लगामसे बाँधता क्यों है, और स्वयं भी उसके साथ रकाबसे बँधता क्यों है? दौड़ना होगा इसलिए, दूरवर्ती लक्ष्य-स्थान तक जाना होगा इसलिए। भारतवर्ष जानता था कि समाज मनुष्यका अन्तिम लक्ष्य नहीं है, मनुष्यका चिर-अवलम्बन नहीं है; समाज बना है मनुष्यको मुक्तिके मार्गमें अग्रसर करानेके लिए। संसारका बन्धन भारतवर्षने इसी अभिप्रायसे अधिकतासे माना है कि जिससे वह उससे अधिकतासे निष्कृति पा सके। ऐसे बन्धन और मुक्तिको, उपाय और उद्देश्यको, दोनोंको ही मान्य करनेकी बात प्राचीन उपनिषदोंमें देखनेमें जाती है। ईशोपनिषदमें कहा गया है—

"अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रतः।"

'जो लोग केवल अविद्या अर्थात् संसारकी ही उपासना करते हैं वे अन्ध तमसमें प्रवेश करते हैं; और उससे भी अधिक अन्धकारमें वे प्रवेश करते हैं जो केवलमात्र ब्रह्मविद्यामें ही निरत हैं।'

"विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह, अविद्यया मृत्युं तीर्त्वाविद्ययामृतमश्नुते।"

'विद्या और अविद्या दोनोंको ही जो एकत्र करके जानते हैं वे अविद्याके द्वारा मृत्युसे उत्तीर्ण होकर विद्याके द्वारा अमृतको प्राप्त करते हैं।'

पहले मृत्युसे उत्तीर्ण होना होगा, उसके बाद अमृत लाभ होगा। संसारके भीतरसे ही इस मृत्युको पार करना होता है। प्रवृत्तिको यथार्थ-रूपसे कर्ममें

नियुक्त करके पहले प्रवृत्तिको और कर्मको क्षय कर देना होता है, उसके बाद ब्रह्म प्राप्तिकी बात है। संसारको बलपूर्वक अस्वीकार करके कोई अमृतका अधिकारी नहीं हो सकता।

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।"

'कर्म करके सौ वर्ष इहलोकमें जीवित रहनेकी इच्छा करो, हे नर, तुम्हारे लिए इसके अन्यथा कोई पथ नहीं ; कर्ममें लिप्त न होना पड़े ऐसा कोई पथ नहीं।'

मनुष्यको पूर्णता प्राप्त करना हो तो उसके लिए परिपूर्ण जीवन और सम्पूर्ण कर्मकी आवश्यकता है। जीवन सम्पूर्ण होते ही जीवनका प्रयोजन निःशेष हो जाता है और कर्म समाप्त होते ही कर्मका बन्धन शिथिल हो जाता है। जीवनको और जीवनके अवसानको, कर्मको और कर्मकी समाप्तिको ऐसे अत्यन्त सहज-रूपमें ग्रहण करनेके लिए जो बात याद रखनेकी है वह ईशोपनिषदके प्रथम श्लोकमें ही कह दी गई है—

"ईशा वास्यमिदं सर्वं यत् किंच जगत्यां जगत्।"

'ईश्वरके द्वारा इस जगत्‌के सब-कुछको आच्छन्न जानो।' और—

"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।"

'उन्होंने जो त्याग किया है, उन्होंने जो दिया है, उसीका भोग करो ; अन्य किसीके धनमें लोभ न करो।'

संसारको यदि हम ब्रह्मके द्वारा आच्छन्न जान सकें, तो संसारका विष दूर हो जाता है ; उसकी संकीर्णता दूर हो जानेसे उसका बन्धन हमें कसके नहीं बाँध सकता। और संसारके भोगको ईश्वरका दान समझकर ग्रहण करनेसे छीना-झपटी और मार-काट रुक जाती है। इस तरह संसारके सुखको, कर्मको और जीवनको ब्रह्म-उपलब्धिके साथ युक्त करके खूब बड़े रूपमें जानना ही समाज-रचना है, जीवन-निर्वाहकी आरम्भकी बात है।

भारतवर्षने इस भूमाके सुरमें ही समाजको बाँधनेकी चेष्टा की थी। समाजको बाँधकर मनुष्यकी आत्माको मुक्ति देनेकी चेष्टा की थी। शरीरको अपवित्र कहके उसने पीड़ा देना नहीं चाहा, समाजको कलुषित बताकर उसका

परिहार कराना नहीं चाहा, जीवनको अनित्य घोषित करके उसकी अवज्ञा करना नहीं सिखाया। उसने सब-कुछको ही ब्रह्मके द्वारा अखण्ड-परिपूर्ण करना चाहा था।

युरोपमें मनुष्यके जीवनके दो भाग देखनेमें जाते हैं। एक सीखनेकी अवस्था और उसके बाद सांसारिक काम करनेकी अवस्था। बस, यहीं सब शेष है। किन्तु काम करनेको तो किसी-कुछका शेष नहीं कहा जा सकता। लाभ ही शेष है। शक्तिको केवल काममें लेते जाना ही तो शक्तिका परिणाम नहीं है, सिद्धिमें पहुँचना ही परिणाम है; आगमें केवल ईंधन डालते जाना ही तो लक्ष्य नहीं है, रन्धनमें ही उसकी सार्थकता है। किन्तु, युरोपने मनुष्यको ऐसे-किसी स्थानपर लक्ष्य स्थापित करने नहीं दिया जहाँ काम अपने स्वाभाविक परिणाममें आकर दम ले सके। वे धन संग्रह करना चाहते हैं, करें, किन्तु संग्रहका तो कहीं अन्त नहीं है; वे जगतके संवाद जानना चाहते हैं, जानें; किन्तु जाननेका तो कहीं शेष नहीं है। सभ्यताको वे 'प्रोग्रेस' अर्थात् प्रगति करते हैं। प्रोग्रेस या प्रगति शब्दके मानी ही यह हो गये हैं कि केवल चलते ही रहना, कहीं और कभी भी घर न पहुंचना। इसीलिए, जीवनको असमाप्तिमें सहसा समाप्त कर देना, अविराममें सहसा रुक जाना ही युरोपकी जीवन-यात्रा बन गई है। 'नॉट दि गेम बट दि चेस' : शिकार पाना नहीं किन्तु शिकारके पीछे दौड़ते रहना ही युरोपके लिए आनन्दका सार हो गया है।

जो हाथमें आता है उसमें सुख नहीं है, यह बात क्या हम भी नहीं कहते? हम भी तो कहते हैं—

"निःस्वो व्यष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपो
लक्षेशः क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रेश्वरत्वं पुनः।
चक्रेशः पुनरिन्द्रतां सुरपतिर्ब्राह्मं पदं वाञ्छति,
ब्रह्मा विष्णुपदं हरिः शिवपदं त्वाशावधिं को गतः।"

सारांश यह कि जिसे जितना मिलता है उससे उसकी आशा नहीं मिटती; चाहे जितना भी अधिक क्यों न मिल जाय, उससे अधिक पानेकी ओर मन

दौड़ता है। तो फिर कामका अन्त होगा कैसे ? पानेमें जब कि चाहनेका अन्त नहीं, तो फिर असम्पूर्ण आशामें असमाप्त कार्य छोड़कर मरना ही मनुष्यकी एकमात्र गति मालूम होती है।

किन्तु यहाँ भारतवर्षका कहना है कि और-सब-कुछ पानेका यह लक्षण अवश्य है, किन्तु एक जगह पानेकी समाप्ति भी है। वहीं यदि लक्ष्यकी स्थापना की जाय, तो कर्मका भी अवसान होगा और हम भी छुट्टी पायेंगे। कहीं भी चाहनेका अन्त न हो, संसार इतना बड़ा धोखा और जीवन इतना बड़ा पागलपन हो ही नहीं सकता। मनुष्यके जीवन-सङ्गीतमें केवल अविश्राम तान ही हो और कहीं भी 'विराम' या 'सम' न हो, यह बात हम नहीं मानते। तान चाहे कितनी ही मनोहर क्यों न हो, उसमें गानका अकस्मात् अन्त हो जानेसे रस-बोधको चोट पहुंचती है ; और यदि वह 'सम' में आकर शेष हो, तो सम्पूर्ण तानकी लीला निविड़ आनन्दमें परिसमाप्त होती है।

इसीलिए भारतवर्षने काम करते-करते अकस्मात् बीचमें मृत्युके द्वारा जीवनको विच्छिन्न होने देनेका उपदेश नहीं दिया। जीवनको पूरी रफ्तारमें दौड़ते-दौड़ते ही पुल तोड़कर सहसा अतल जलमें डूब मरनेका परामर्श नहीं दिया, उसे स्टेशन तक पहुंचा देना चाहा है। संसार कभी किसी दिन भी समाप्त नहीं होगा, यह बात ठीक है ; जीव-सृष्टिके आरम्भसे, अनादिसे अब तक उन्नति - अवनतिकी तरङ्गोंमेंसे संसार चला आ रहा है, उसमें कहीं कोई विराम नहीं है। किन्तु प्रत्येक मनुष्यकी संसारलीलाका जब अन्त होनेको आता है तब मनुष्य यदि एक सम्पूर्णताकी अनुभूति-उपलब्धिको बिना जाने ही प्रस्थान कर जाय, तो उसने जीवनमें किया क्या ?

बाहर किसी बातका अन्त नहीं है, एकके बाद एक बराबर चलता ही चला गया है। इस चिर-चलायमान वहिःसंसारके झूलेमें ही हम बड़े हुए हैं ; हमारे लिए किसी दिन इस झूलेका काम खतम हो जानेपर भी उसका काम किसी दिन बिलकुल खतम नहीं हो जायगा। ऐसा समझकर हमें अपने सामर्थके अनुसार इस प्रवाहके पथको आगे बढ़ाते रहना होगा। हमें अपनी शक्तिके अनुसार इसके ज्ञान-भण्डारमें यथासाध्य ज्ञान और इसके कर्म-चक्रमें यथासाध्य

वेगका सञ्चार कर देना होगा। किन्तु इसके मानी यह नहीं कि बाहरके इस अशेषमें हम स्वयं ही बह जायें। तब तो हमें नष्ट होना पड़ेगा। असलमें, अन्तरात्मामें एक समाधानका मार्ग है। बाहर उपकरणोंका अन्त नहीं, किन्तु अन्तरात्मामें सन्तोष है ; बाहर दुःख-कष्टका अन्त नहीं, किन्तु अन्तरात्मामें धैर्य है ; बाहर प्रतिकूलताओंका अन्त नहीं, किन्तु अन्तरात्मामें क्षमा है ; बाहर लोगोंके साथ सम्बन्ध-भावका अन्त नहीं, किन्तु अन्तरात्मामें प्रेम है ; बाहर संसारका अन्त नहीं, किन्तु आत्मामें आत्मा सम्पूर्ण है। एक ओरके अशेषके द्वारा ही और-एक ओरकी अखण्डताकी उपलब्धि-अनुभूति परिपूर्ण हुआ करती है। गतिके द्वारा ही स्थितिको माप लेना होता है।

इसीलिए, भारतवर्षने मनुष्यके जीवनको जिस रूपमें विभक्त किया था उसमें कर्म तो है बीचमें और मुक्ति है अन्तमें। दिन जैसे चार स्वाभाविक अंशोंमें विभक्त है, पूर्वाह्न मध्याह्न अपराह्न और सायाह्न, भारतवर्षने जीवनको भी उसी प्रकार चार आश्रमोंमें बाँट दिया था। ये विभाग स्वभावको ही अनुसरण करके किये थे। आलोक और उत्तापकी क्रमशः वृद्धि और क्रमशः ह्रास जैसे दिनमें है, ठीक वैसे ही मनुष्यकी इन्द्रिय-शक्तिकी क्रमशः उन्नति और क्रमशः अवनति है। इस स्वाभाविक क्रमका अवलम्बन करके भारतवर्ष जीवनके आरम्भसे लेकर जीवनके अन्त तक एक अखण्ड तात्पर्यको वहन कर ले गया है। पहले शिक्षा, फिर संसार, फिर बन्धनोंको शिथिल करना, और फिर अन्तमें मृत्युमेंसे उत्तीर्ण होकर मुक्ति ; ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और प्रव्रज्या।

आधुनिक कालमें हम जीवनके साथ मृत्युका एक विरोध-सा अनुभव करते हैं। मृत्यु मानो जीवनका परिणाम नहीं, जीवनकी शत्रु हो। जीवनके पर्व-पर्वमें हम अक्षमकी तरह मृत्युके साथ लड़ते-हुए चलते हैं। यौवन चला जानेपर भी हम उसे खींच-तानकर रखना चाहते हैं। भोगकी आग धीमी होकर बुझना चाहती है, किन्तु फिर भी हम नाना प्रकारका ईंधन डालकर उसे जगाये रखना चाहते हैं। इन्द्रिय-शक्ति घटती रहती है, किन्तु फिर भी हम जी-जानसे काम करनेकी चेष्टा करते हैं। मुष्टि जब कि स्वभावतः ही शिथिल

होती रहती है तब भी हम किसी भी तरह किसी-कुछके किसी भी अंशको छोड़ना नहीं चाहते। प्रभात और मध्याह्नके सिवा हम अपने जीवनके और-किसी भी अंशको, किसी भी हालतमें, स्वीकार करना नहीं चाहते। अन्तमें जब हमसे भी प्रबलतर शक्ति हमारे कान पकड़कर हमें स्वीकार करनेके लिए बाध्य करती है, तब, या तो हममें विद्रोह या विषाद उपस्थित होता है। और तब हमारा वह पराभव केवल रणमें पीठ दिखाकर भागनेमें ही परिणत हो जाता है। उसे फिर हम किसी काममें ही नहीं लगा सकते। असल बात यह है कि जो परिणाम निश्चित परिणाम हैं उन्हें सहजमें ग्रहण करनेकी शिक्षा न होनेके कारण ही हम अपने-आप कुछ भी नहीं छोड़ते, सब-कुछ अपने पाससे छीन लेने देते हैं। सत्यको हम अस्वीकार करते हैं इसीलिए पद-पदपर सत्यसे हम पराजित होते रहते हैं।

कच्ची अँबिया अपने डंठलके साथ टहनीको खूब जोरसे पकड़े रहती है और उसकी अपरिणत गुठलीके ऊपर उसका परिणत गूदा कसके लगा रहता है; किन्तु प्रतिदिन वह जितनी-जितनी पक रही है उतने परिमाणमें उसका डंठल ढीला हो रहा है, उसकी गुठली गूदेसे अलग हो रही है और सारा फल पेड़से पृथक होता जा रहा है। फल जो एक दिन पेड़के बन्धनसे सम्पूर्णतः स्वतन्त्र हो जायगा, यही उसकी सफलता है; पेड़से चिरकाल तक लिपटे रहनेमें ही उसकी व्यर्थता है। फलकी तरह हमारी इन्द्रिय-शक्तियाँ भी एक दिन संसारकी डालीसे सम्पूर्ण रस ले चुकनेके बाद अन्तमें डाली छोड़कर धूलमें मिल जाती हैं। और यह संसारके नियमानुसार ही होता है; इसमें हमारा कोई हाथ नहीं। किन्तु, भीतर जहाँ हमारा मनुष्यत्व है, जहाँ हमारी इच्छा-शक्तिकी लीला है, वहाँकी परिणतिके लिए इच्छाशक्ति ही एक प्रधान शक्ति है। इञ्जनके बॉयलरपर जो तापमान-यन्त्र रहता है उसका पारा स्वाभाविक नियमानुसार ही चढ़ता-उतरता है, किन्तु उसके संकेतको समझकर बॉयलरकी आगको घटाना-बढ़ाना इञ्जीनियरपर ही निर्भर है। इसी तरह इन्द्रिय-शक्तिकी ह्रास-वृद्धिके साथ-साथ अपनी प्रवृत्तिकी उत्तेजना और कर्मके उत्साहको घटाना-बढ़ाना हमारे ही हाथ है। इस यथासमय घटाने-बढ़ानेके द्वारा ही हम सफलता प्राप्त करते हैं।

पके फलमें एक तरफ डंठल कमजोर और गूदा शिथिल जरूर होता है, किन्तु दूसरी ओर उसकी गुठली कड़ी होकर नये प्राणकी पूँजी प्राप्त करती रहती है। हमारे भीतर भी ऐसा हरण-पूरण चालू है। हमारे भी बाहरके ह्रासके साथ भीतरकी वृद्धिका योग है। किन्तु भीतरके काममें मनुष्यकी अपनी इच्छा बलवान होनेसे यह वृद्धि और परिणति हमारी साधनाकी अपेक्षा रखती है। इसीलिए हम देखते हैं कि दाँत गिर रहे हैं, बाल सफेद हो रहे हैं, शरीरका तेज घट रहा है, मनुष्य अपनी आयुके शेष प्रान्तमें पहुंच रहा है, किन्तु फिर भी वह किसी भी तरह संसारसे अपने डंठलको सहजमें शिथिल नहीं होने दे रहा है ; जी-जानसे वह सब-कुछको जकड़े ही रहता है ; यहाँ तक कि मृत्युके बाद भी संसारके क्षुद्र विषयोंमें भी उसीकी इच्छा बलवान बनी रहे, इसी बातकी वह जीवनके शेष क्षण तक चिन्ता करने लगता है। आधुनिक काल इसे गर्वका विषय समझता है। किन्तु यह गौरवका विषय नहीं है।

त्याग हमें करना ही होगा और त्यागके द्वारा ही हम लाभ करेंगे। यह संसारका मर्मगत सत्य है। फूलको पँखड़ियाँ गिरानी ही होंगी, तभी फूल खिलेंगे ; फलको वृक्षसे गिरना ही होगा, तभी वृक्ष होंगे। गर्भके शिशुको गर्भाश्रय छोड़कर पृथिवीपर आना ही पड़ता है। पृथिवीपर आकर वह शरीर और मनसे अपनेमें बढ़ता रहता है ; तब उसके लिए और-कुछ कर्तव्य नहीं है। अपनी इन्द्रिय-शक्ति और विद्या-बुद्धिकी वृद्धिकी एक सीमामें आकर उसे फिर अपनेमेंसे संसारमें भूमिष्ठ होना पड़ता है। और यहाँ वह पुष्ट शरीर, शिक्षित मन और सबल प्रवृत्ति लेकर परिवार और प्रतिवेशियोंमें निविष्ट होता है। यही उसका द्वितीय शरीर है, उसका वृहत् कलेवर। उसके बाद शरीर जीर्ण और प्रवृत्तियाँ क्षीण होती रहती हैं ; और तब वह अपनी विचित्र अभिज्ञता और अनासक्त प्रवीणता लेकर अपने क्षुद्र संसारसे निकलकर वृहत्तर संसारमें जन्मग्रहण करता है ; फिर उसकी शिक्षा, ज्ञान और बुद्धि एक ओर साधारण मानवके काम जाती रहती है और दूसरी ओर वह अवसन्नप्राय मानव-जीवनके साथ नित्य-जीवनका सम्बन्ध स्थापन करता रहता है। उसके बाद पृथिवीके नाड़ी-बन्धनको सम्पूर्ण क्षय करके वह अति सहजमें ही मृत्युके

सामने जा खड़ा होता है और अनन्तलोकमें जन्मग्रहण करता है। इस तरह वह शरीरसे समाजमें, समाजसे निखिलमें, और निखिलसे अध्यात्म-क्षेत्रमें मानव-जन्मको शेष-परिणति दान करता है।

प्राचीन साहित्यकारोंने हमारी शिक्षाको, हमारे गार्हस्थ्यको अनन्तमें उसी शेष-परिणामकी ओर अभिमुख करना चाहा था। हमारे सम्पूर्ण जीवन को जीवनके ही परिणामके अनुकूल बनाना चाहा था। इसीलिए हमारी शिक्षा केवल विषय-शिक्षा, केवल ग्रन्थ-शिक्षा नहीं थी ; असलमें वह था ब्रह्मचर्य। नियम-संयमके अभ्याससे उससे ऐसा एक बल प्राप्त होता था कि जिससे भोग और त्याग दोनों ही हमारे लिए स्वाभाविक हो जाता था। सम्पूर्ण जीवन ही तब धर्माचरण था ; कारण, उसका लक्ष्य था ब्रह्ममें मुक्ति, इसलिए उस जीवनको वहन करनेकी शिक्षा भी धर्मव्रत था। इस व्रतको श्रद्धा भक्ति और निष्ठाके साथ अत्यन्त सावधानीसे पालना पड़ता था। मनुष्यके लिए जो एकमात्र सत्य है उस सत्यको सामने रखकर बालक अपने जीवनके मार्गपर चलनेके लिए प्रस्तुत होता था।

बाहरकी शक्तिके साथ भीतरी शक्तिकी सामंजस्य-क्रियाको प्राणोंका लक्षण कहा गया है। पेड़-पौधोंमें सामंजस्यका यह कार्य यन्त्रकी तरह होता है। आलोक, वायु और खाद्य-रसकी उत्तेजनाकी प्रतिक्रियाके द्वारा उसके प्राणोंका कार्य यथावत् चलता रहता है। हमारे शरीरमें भी ऐसा ही होता है। जिह्वामें खाद्य-संयोगकी उत्तेजनासे अपने-आप ही रसका क्षरण होता है और पाकस्थलीमें भी खाद्यके संस्पर्शसे सहज ही में पाकरसका उद्रेक होता है। हमारे शरीरकी प्राण-क्रिया बाहरकी विश्व-शक्तिकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया है।

किन्तु हमारे भीतर 'मन' नामकी, 'इच्छा' नामकी और-एक वस्तुका योग हो जानेसे हमारे प्राणोंपर और-एक उपसर्ग बढ़ गया है। खानेकी अन्यान्य उत्तेजनाओंके साथ खानेका आनन्द एक और आ जुटा है। उससे आहारका काम हमारे लिए केवल आवश्यक काम ही नहीं रहा, हमारी तबीयतका काम हो उठा है। इससे प्रकृतिके कामके साथ हमारा एक मानसिक सम्बन्ध बढ़ गया है। देहके साथ देहकी बाहरी शक्तिका एक सामंजस्य प्राणोंमें हो रहा

है ; और उसके साथ ही इच्छा-शक्तिका एक सामंजस्य मनमें चल रहा है। इससे मनुष्यके प्रकृति-यन्त्रकी साधना बड़ी कठिन हो उठी है। विश्व-शक्तिके साथ प्राण-शक्तिका सुर बहुत दिनोंसे मिल चुका है, उसके लिए कुछ सोचना नहीं होता ; किन्तु इच्छा-शक्तिके सुर मिलानेमें हमें प्रतिक्षण झंझट उठाना पड़ता है। खाद्यके सम्बन्धमें प्राण-शक्तिकी आवश्यकता मिट भी गई तो क्या हुआ, किन्तु हमारी इच्छाकी ताकीद नहीं निबटना चाहती। देहकी आवश्यकता पूरी करनेमें हमें जो आनन्द मिला, उस आनन्दको हमने आवश्यकताके बाहर भी खींच ले जाना चाहा ; नाना कृत्रिम उपायोंसे विमुख रसनाको हम रस-सिक्त करने और श्रान्त पाकस्थलीको उत्तेजित करने लगे, और इस तरह बाहरके साथ प्राणकी और प्राणके साथ मनकी एकतानता नष्ट करके हम नाना अनावश्यक चेष्टाएँ, अनावश्यक उपकरण और शाखा-पल्लवायित दुःखकी सृष्टि करते रहे। हमारी जो अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं उनकी पूर्ति होना ही दुरूह है, उसपर बहुत ज्यादा अनावश्यक बोझ बढ़ जानेसे उनकी पूर्ति करना हमारे लिए और भी कष्टकर हो गया है। असलमें, इच्छा जब एक बार स्वभावकी सीमा लाँघ जाती है तब फिर कहीं भी उसके रुकनेका कारण नहीं रह जाता, तब वह 'हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते', केवल 'चाहिए, चाहिए' करती हुई बढ़ती ही चली जाती है। संसारमें अपने और पराये पन्द्रह-आने दुःखका कारण यही है। और तथ्यकी बात यह है कि इस इच्छाशक्तिको विश्वशक्तिके सामंजस्यमें लाना ही हमारे लिए परमानन्दका कारण है। इसलिए इच्छाको नष्ट करना हमारी साधनाका विषय नहीं है, इच्छाको विश्व-इच्छाके साथ एक सुरमें बाँधना ही हमारी सकल शिक्षाका चरम लक्ष्य है। आरम्भमें ही यदि ऐसा न किया जाय, तो हमारे चंचल मनमें ज्ञान लक्ष्यभ्रष्ट, प्रेम कलुषित और कर्म वृथा परिभ्रान्त होता रहता है। हमारा ज्ञान प्रेम और कर्म विश्वके साथ सहज मिलनमें न मिलकर आत्मम्भरी इच्छाओंकी मरीचिकाके पीछे दौड़ता रहता है।

इसलिए, आयुके प्रथम भागमें ब्रह्मचर्य-पालनके द्वारा इच्छाको उसकी यथाविहित सीमामें सहज संचरण करनेका अभ्यास कराया जाना चाहिए।

इसीमें विश्व-प्रकृतिके साथ हमारी मानस-प्रकृतिका सुर क्रमशः बँधता चला जायगा। उसके बाद उस सुरमें हम अपने सामर्थके अनुसार और इच्छानुसार कोई भी रागिनी क्यों न बजायें, फिर उससे सत्यके सुरको, मंगलके सुरको, आनन्दके सुरको कहीं भी कोई आघात नहीं पहुँचेगा। इस प्रकारसे शिक्षाका काल पूरा करके संसार-धर्ममें प्रवृत्त होना चाहिए। मनु कहते हैं—

'न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः।'

'विषयकी सेवा बिना किये वैसा संयम नहीं किया जा सकता जैसा विषयमें नियुक्त रहकर ज्ञानके द्वारा नित्यशः किया जा सकता है।' अर्थात्, विषयमें नियुक्त बिना हुए ज्ञान पूर्णता प्राप्त नहीं करता; और जो संयम ज्ञानके द्वारा लब्ध नहीं है वह पूर्ण संयम नहीं है, वह जड़ अभ्यास अथवा अनभिज्ञताका अन्तराल मात्र है, वह प्रकृतिके मूलगत नहीं किन्तु वाह्य है।

प्रवृत्तिको संयमके साथ चलानेकी शिक्षा और साधना होनेसे ही कर्म और विशेषतः मंगल-कर्म करना सहज और सुख-साध्य होता है। उस अवस्थामें ही गृहाश्रम जगत्के कल्याणका आधार हो उठता है। और उसी अवस्थामें गृहाश्रम मनुष्यके लिए मुक्तिके पथपर अग्रसर होनेमें वाधा नहो कर सहायक होता है। उस अवस्थामें गृहस्थ जो-कोई कर्म करता है उसे सहजमें ब्रह्मको समर्पण करके आनन्दित हो सकता है। गृहस्थका समस्त कर्म जब मंगल-कर्म होता है, जब वह धर्म-कर्म हो उठता है; तब, उस कर्मका बन्धन मनुष्यको बाँधकर बिलकुल जर्जरित नहीं कर देता। यथासमय वह बन्धन अनायास ही स्खलित हो जाता है और यथासमय उस कर्मकी एक स्वाभाविक परिसमाप्ति आ जाती है।

इस तरह आयुके द्वितीय भागको संसार-धर्ममें लगानेके बाद शरीरका तेज जब ह्रास होता रहे तब हमें इस बातका ध्यान रखना होगा कि अब इस क्षेत्रके कार्यकी समाप्तिका संवाद आ गया। किन्तु समाप्तिका संवाद पानेके मानी यह नहीं हैं कि नौकरीसे बरखास्त अभागेकी तरह हम अपनेको दीन समझें। 'हमारा सब गया' ऐसा मानकर इसे अनुशोचनाका विषय बनानेसे काम नहीं चलेगा, किन्तु ऐसा समझकर कि अब आगे इससे और-भी बड़ी

परिधिके क्षेत्रमें प्रवेश करना है, आशा और बलके साथ उस ओर मुँह उठाना होगा। और अनुभव करना होगा कि जो क्षेत्र दैहिक बलका था, इन्द्रिय-शक्ति और प्रवृत्ति-संचालनका था, वह अब पीछे रह गया है ; वहाँ जो-कुछ फसल पैदा हुई थी उसे काटकर खलियान करके खत्तीमें भरकर उस कामको तो खतम करके चल दिया,– अब सन्ध्या हुई, कर्मक्षेत्रकी चहारदीवारी छोड़कर अब बड़ी सड़कपर चलना है। अब, घर बिना पहुँचे तो चरम शान्ति नहीं मिल सकती। यहाँ जो-कुछ सहा और जो-कुछ मेहनत-मजूरी की, सो किसलिए? घरके लिए ही तो! वह घर ही 'भूमा' है, वह घर ही आनन्द है,– जिस आनन्दसे हम आये हैं और जिस आनन्दमें हम जायेंगे। यही यदि न हुआ, तो, 'ततः किम्, ततः किम्, ततः किम्!'

ऐसी अवस्थामें हमें अनुभव करना होगा कि अब तो गृहाश्रमका काम पूरा करके और सन्तानके हाथ संसारका भार समर्पण करके, अब बड़ी सड़कपर चलनेकी तैयारी करना ही श्रेयस्कर है। अब बाहरकी खुली हवामें जाकर मुक्त आकाशके आलोकमें आत्म-दृष्टिको निमग्न करना और आत्म-शरीरके समस्त रोमकूपोंको पुलकित करना है। अब यहाँका खेल तो खतम हुआ, प्रसूतिगृहकी नाड़ी कट चुकी, अब अन्य जगत्में स्वाधीन संचरणका अधिकार प्राप्त करना है।

शिशु माताके गर्भसे जन्म लेकर पृथिवीपर आनेके बाद भी, सम्पूर्ण स्वाधीन होनेके पूर्व, कुछ समय तक माके पास ही रहता है, वियुक्त होकर भी युक्त रहता है, सम्पूर्ण वियुक्त होनेके लिए प्रस्तुत होता है। इसी प्रकार संसारके गर्भसे निष्क्रान्त होनेपर भी बाहरकी ओरसे संसारके साथ इस तृतीय आश्रम-धारीका योग रहता है। बाहरकी ओरसे वह संसारको अपने जीवनमें संचित ज्ञानका फल दान करता है और संसारसे स्वयं भी सहायता लेता है। किन्तु यह दान वह संसारीकी तरह एकान्त-रूपसे नहीं लेता, मुक्त-रूपसे ही लेता है।

अन्तमें आयुके चतुर्थ भागमें ऐसा एक दिन आता है जब इस बन्धनको भी छोड़कर उसे एकाकी ही उस परम एकके सम्मुखीन होना होता है। और

तब मंगल-कर्मके द्वारा संसारके समस्त सम्बन्धोंको पूर्ण परिणति दान करके आनन्द-रूपके साथ चिरन्तन सम्बन्ध प्राप्त करनेके लिए प्रस्तुत होना होता है। पतिव्रता स्त्री जैसे दिन-भर घर-संसारके नाना लोगोंसे नाना सम्बन्धोंका पालन करती-हुई नाना कार्य करके अन्तमें पतिका ही कार्य करती है, पतिके ही सम्बन्धको यथार्थ-रूपसे स्वीकार करती है, दिन समाप्त हो जानेपर कामकी चीजें उठाकर, नहा-धोकर, कपड़े बदलकर कर्मक्षेत्रके चिह्नोंको पोंछकर निर्मल वेशमें एकाकिनी पतिके साथ एकमात्र पूर्ण सम्बन्धका अधिकार ग्रहण करनेके लिए एकान्त कक्षमें प्रवेश करती है, समाप्तकर्म पुरुष भी उसी प्रकार कर्म-जीवनकी समस्त खण्डताओंको मिटाकर असीमके साथ मिलनके लिए प्रस्तुत होकर अन्तमें एकाकी ही उस 'एक' के सामने जा खड़ा होता है, और अपने सम्पूर्ण जीवनको इस परिपूर्ण समाप्तिमें अखण्ड सार्थकता दान करता है। इसी तरह मानव-जीवन आद्योपान्त सत्य होता है, जीवन मृत्युको लंघन करनेकी वृथा चेष्टा नहीं करता, और मृत्यु शत्रुपक्षकी तरह आक्रमण करके जीवनको बलपूर्वक परास्त नहीं करती। जीवनको हम और चाहे जैसे भी खण्ड-विखण्ड और विक्षिप्त क्यों न करें, अन्य किसी भी अभिप्रायको हम 'चरम' क्यों न समझें और उसे हम देश-उद्धार, लोक-हित या और कोई भी बड़ा नाम क्यों न दें, उसमें सम्पूर्णता नहीं रहती, वह हमें अकस्मात् बीच रास्तेमें छोड़ जाती है ; और उसमेंसे यही एक प्रश्न बराबर ध्वनित होता रहता है, 'ततः किम्, ततः किम्, ततः किम् !' और, भारतवर्ष जो चार आश्रमोंमेंसे मनुष्यके जीवनको बाल्य, यौवन, प्रौढ़ावस्था और वार्धक्यके स्वाभाविक विभागोंके अनुगत करके अध्याय-अध्यायमें जैसे एकमात्र समाप्तिकी ओर ले गया है, उसमें विशाल विश्व-सङ्गीतके साथ मनुष्यके जीवनका अविरोध सम्मिलन होता है। उसमें विद्रोह-विरोध नहीं रहता ; हमारी अशिक्षित प्रवृत्तियाँ अपने उपयुक्त स्थान-कालको भूलकर जिन गुरुतर अशान्तियोंकी सृष्टि करती रहती हैं उन्हींमें विभ्रान्त होकर और निखिलके साथ सहज-सत्य सम्बन्धसे भ्रष्ट होकर संसारमें हमें उत्पात-स्वरूप नहीं होना पड़ता।

मैं जानता हूं, यहाँ एक प्रश्न उठेगा कि 'किसी एक सम्पूर्ण देशके सम्पूर्ण

मनुष्य-समाजका क्या इस आदर्शके अनुसार निर्माण किया जा सकता है ?' उत्तरमें मैं यही कहूंगा कि जब घरमें दीआ जलाया जाता है तब क्या दीवटसे लेकर बत्ती तक प्रदीपका सबका सब जलता है ? जीवन-यापनके सम्बन्धमें, धर्मके सम्बन्धमें जिस-किसी देशका जो कोई भी आदर्श क्यों न हो, वह समग्र देशके मुखाग्र-भागमें ही उज्ज्वल-रूपमें प्रकाशित होता है। असलमें बत्तीके केवल अग्रभाग मात्र जलनेको ही सम्पूर्ण दीआ जलना कहा जाता है। इसी तरह देशका एक अंश मात्र जिस भावको पूर्ण-रूपसे अङ्गीकार करता है, उसे अपने आयत्तमें लाता है, उससे सारे देशका ही लाभ होता है। वास्तवमें उस अंशको ही पूर्णता देनेके लिए सम्पूर्ण देशको प्रस्तुत होना होता है, सम्पूर्ण समाजको अनुकूल होना होता है, जैसे डालोंपर फल लानेके लिए पेड़की जड़ और तनेको सचेष्ट होना होता है। भारतवर्षके यदि कभी ऐसे दिन आयें जब कि हमारे देशके मान्य और श्रेष्ठ व्यक्ति सर्वोच्च सत्य और सर्वोच्च मङ्गलको ही अन्यान्य समस्त खण्ड प्रयोजनोंके ऊपर उठाकर चिर-जीवनकी साधनाकी वस्तु बना दें, तो उनकी साधना और सार्थकता सम्पूर्ण देशमें एक विशेष शक्तिका संचार करेगी ही करेगी। किसी समय भारतवर्षमें ऋषिगण जब ब्रह्मकी साधनामें रत थे तब यहाँके सम्पूर्ण आर्यसमाजमें, युद्धमें, वाणिज्यमें, साहित्यमें, शिल्पमें, धर्मार्चनामें, सर्वत्र ही उस ब्रह्मका सुर बज उठा था ; कर्ममें मोक्षका भाव विराज रहा था ; और भारतवर्षकी सम्पूर्ण समाज-स्थिति मैत्रेयीकी तरह कह रही थी, "येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् !" वह वाणी चिरकालके लिए ही नीरव हो गई है, ऐसी ही यदि हमारी धारणा हो गई हो, तो हम अपने इस मृत समाजके लिए इतने उपकरण जुटाकर वृथा सेवा क्यों किये मरते हैं ? तब तो इसी क्षणसे आपादमस्तक पर-जातिका अनुकरण करना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है ; कारण, परिणाम-हीन व्यर्थताके भारको वहन करते-हुए निश्चेष्ट पड़े रहनेसे तो सजीव-रूपमें एक-कुछ हो उठनेकी चेष्टा करना कहीं अच्छा ! किन्तु इस बातको हम कदापि नहीं मानेंगे। हमारी प्रकृति नहीं मानेगी। हमारी चाहे कितनी ही दुर्गति क्यों न हो गई हो, फिर भी हमारा अन्तरतम स्थान इस ढंगसे बना-हुआ है कि किसी भी असम्पूर्ण अधिकारको

हमारा मन परम लाभके रूपमें स्वीकृति नहीं दे सकता। अब भी यदि कोई साधक अपने जीवनकी वीणामें 'संसारके समस्त चाहने' और 'पाने'से बढ़कर उच्चतम सप्तकमें कोई एक विराट सुर बजाना आरम्भ कर दें, तो वह हमारे हृदयके तारमें उसी क्षण प्रतिझंकृत होने लगेगा ; उसे हम रोक नहीं सकते। प्रताप और ऐश्वर्यकी प्रतियोगिताको हम चाहे जितने ऊँचे कण्ठसे और चाहे जितने बड़े रूपमें प्रचार करनेकी चेष्टा क्यों न करें, किन्तु हम उसे सम्पूर्ण मन-प्राणसे ग्रहण नहीं कर पा रहे हैं। वह हमारे मनके वहिर्द्वारपर केवल एक झमेला-भर पैदा कर रहा है, और कुछ नहीं।

हमारे समाजमें आजकल विवाह आदि अनुष्ठानोंमें देशी नौबतके साथ-साथ एक ही समयमें फौजी बैण्ड-बाजा भी बजते देखा जाता है। इससे सङ्गीत छिन्न-विच्छिन्न होकर मात्र एक सुरकी गड़बड़ी ही चलती रहती है। इस गड़बड़ीकी झंझनाहटमें जरा गहराईके साथ विचार कर देखें तो हमें स्पष्ट मालूम होगा कि नौबतकी वैराग्य-गाम्भीर्य-मिश्रित करुण शहनाई तो हमारे उत्सवके चिरन्तन हृदयमेंसे बज रही है और किलेका फौजी बाजा अपना प्रचण्ड कांस्यकण्ठ और स्फीतोदर जय-डंका लेकर केवल धनके अहंकार और फैशनके आडम्बरको अभ्रभेदी करके सम्पूर्ण गभीरतर और अन्तरतर सुरको आच्छन्न कर डालनेकी चेष्टा कर रहा है, और हमारे मङ्गल-अनुष्ठानमें वह एक गर्वपूर्ण असामञ्जस्यको ही अत्युत्कट किये दे रहा है, हमारे उत्सवकी चिरकालकी वेदनाके साथ अपना सुर नहीं मिला रहा है। हमारे जीवनकी सभी दिशाओंमें इसी तरहका एक असङ्गत जोड़-तोड़का व्यापार चल रहा है। युरोपीय सभ्यताके प्रताप और ऐश्वर्यके आयोजनने हमारी दृष्टिको मुग्ध कर रखा है ; उसके असङ्गत क्षीण अनुकरणपर हम अपने आडम्बर-आस्फालनकी प्रवृत्तिको खूब जोरसे दौड़ा रहे हैं ; हमारी ड्योढ़ीपर उसका जय-डंका बहुत ही ज्यादा शोर मचा रहा है। किन्तु जो हमारे अन्तःपुरका संवाद रखते हैं वे जानते हैं कि वहाँका मङ्गल-शंख इस वाद्याडम्बरकी धमकसे नीरव नहीं हो गया है। किरायेपर आया-हुआ किलेका बाजा जब किलेमें लौट जायगा तब भी हमारा अपने घरका शंख आकाशमें उत्सवकी मङ्गल-ध्वनि घोषित करता रहेगा। हम

अंगरेजोंकी राष्ट्रनीति और वाणिज्यनीतिकी उपयोगिताको खूब अच्छी तरह स्वीकार करते हैं और उसका प्रचार भी करते हैं, किन्तु वह किसी भी तरह हमारे सम्पूर्ण हृदयको पूर्णरूपसे आकृष्ट नहीं कर रही है। हम सबसे बड़े जिस सुरको चिरकालसे सुन रहे हैं, यह सुर उसपर आघात जो कर रहा है, हमारी अन्तरात्मा एक जगह इसे बराबर अस्वीकार जो कर रही है !

किन्तु, हम कभी भी इस तरहके बाजारू आदमी नहीं थे। आज हम बाजारमें निकलकर धक्कमधक्का और शोर-गुल कर रहे हैं ; आज हम नीचे उतरकर ओछे हो गये हैं, कलहमें मतवाले हो गये हैं, पद और पदवियोंको लेकर आपसमें छीना-झपटी कर रहे हैं; और बड़े-बड़े अक्षरों और ऊँचे स्वरके विज्ञापनोंसे अपनेको अन्य पाँच जनोंसे आगे बढ़ जानेकी घोषणा करनेमें आज हमें किसी तरहकी लज्जा ही नहीं है। और मजा यह कि यह एक 'नकल' है। इसमें सत्य अत्यन्त अल्प है। इसमें कोई शान्ति नहीं, गाम्भीर्य नहीं, शिष्टता-शालीनताका संयम नहीं, श्री - शोभा कुछ भी नहीं। इस नकल-युगके आनेके पहले हममें ऐसी एक स्वाभाविक मर्यादा थी कि निर्धनतामें भी हम श्री-सम्पन्न थे, हमारी शोभा थी ; तब मोटा खाना और मोटा पहनना हमारे गौरवको नष्ट नहीं कर सकता था। कर्णने जैसे अपने कवच-कुण्डलके साथ जन्म लिया था, उस कालमें हम भी वैसे ही एक स्वाभाविक आभिजात्यके कवचके साथ ही जन्म लेते थे। उस कवचने ही हमें बहुत दिनोंकी अधीनता और दुःख-दारिद्र्यमें भी जीवित बनाये रखा है और उसीने हमारे सम्मानको नष्ट नहीं होने दिया। कारण, हमारा वह सम्मान कोई बाहरका आहरण किया-हुआ धन नहीं था, वह हमारी अन्तरात्माका धन था। हमें बहकाकर हमारे उस सहजात कवचको किसने हमसे छीन लिया ? वह हमसे छिन गया, इसीसे तो हमारा आत्मरक्षाका उपाय हमारे हाथसे जाता रहा। अब हम विश्वमें लज्जित हो रहे हैं। अब हम अपनी वेश-भूषा और आयोजन उपकरणमें कहीं भी जरा कमी देख पाते हैं तो सिर ही नहीं उठा सकते। सम्मान अब हमारे लिए बाहरकी चीज हो गई है, इसीसे उपाधिके लिए, ख्यातिके लिए हम बाहरकी ओर दौड़ा करते हैं, बाहरके आडम्बरको ही हम

बढ़ाते चले जा रहे हैं ; और कहीं भी जरा छिद्रके लक्षण दिखाई देते ही उसे झूठकी थिगलीसे ढकनेकी कोशिश किया करते हैं। किन्तु इसका अन्त कहाँ है ? जो भद्रता हमारी अन्तरात्माकी वस्तु थी उसे अगर हम बाहर खींचकर जूतेकी दूकान, कपड़ेकी दूकान, घोड़ोंकी हाट और गाड़ीके कारखानेमें घुमाना शुरू करें, तो कहाँ ले जाकर उससे हम कहेंगे कि 'बस, हो गया, अब विश्राम करो।' पहले हम सन्तोषको ही पूर्णता समझते थे ; कारण सन्तोष अन्तरात्माकी समग्री थी। अब उस सुखको यदि हमें हाट-बाजार और घाट-घाटमें ढूँढ़ते फिरना पड़े, तो हम कब कहेंगे कि 'सुख मिला।' आज हमारी भद्रता सस्ते कपड़ोंसे अपमानित होती है, विलायती गृह-सज्जाके अभावसे उपहासित होती है, चेक-बहीके अंकोंकी न्यूनतासे कलङ्कित होती है ; ऐसी भद्रताको मजूरोंकी तरह ढोकर गौरव अनुभव करना कितनी बड़ी लज्जाकी बात है, यही हम भूल बैठे हैं। और, जिन परिणाम-हीन उत्तेजना और उन्मादनाओंको हमने 'सुख' मानकर वरण कर लिया है वे हमारी जैसी वहिर्विषयमें पराधीन जातिके अन्तःकरणको भी दासानुदास किये दे रही हैं।

किन्तु, फिर भी हम कहते हैं कि ये सब उपसर्ग अभी भी हमारी मज्जामें नहीं समाये हैं। अब भी ये बाहर ही पड़े हुए हैं ; और बाहर हैं इसीलिए इनका कलरव इतना ज्यादा है, इसीलिए इन्हें आतिशय्य और अतिशयोक्तिकी आवश्यकता होती है। अभी तक ये हमारे गभीरतर स्वभावके अनुगत नहीं हुए, इसीसे सन्तरण-मूढ़ व्यक्तिके तैरनेके समान इन्हें लेकर हमें उन्मत्तोंकी तरह इतना आस्फालन करना पड़ता है। किन्तु एक बार यदि कोई हमारे बीच खड़ा होकर यथार्थ अधिकारके साथ यह बात कहे कि 'असम्पूर्ण प्रयासमें, उन्मत्त प्रतियोगितोंमें और अनित्य ऐश्वर्यमें हमारा कोई भी श्रेय नहीं है ; जीवनका एक परिपूर्ण परिणाम है, समस्त कर्म और समस्त साधनाओंकी एक परिपूर्ण परिसमाप्ति है, और वह परिणाम और परिसमाप्ति ही हममेंसे प्रत्येककी एकमात्र चरम चरितार्थता है ; उसके आगे और सब-कुछ तुच्छ है', तो आज भी इस हाट-बाजारके कोलाहलमें ही हमारा सम्पूर्ण हृदय पूर्ण स्वीकृतिके साथ तुरत बोल उठेगा कि 'सत्य है, यही सत्य है, इससे बढ़कर सत्य और

कुछ भी नहीं है।' और तब, स्कूलोंमें इतिहासके जो पाठ याद किये थे, लूट-खसोट और मार-काटके पाठ, छोटे-छोटे राष्ट्रोंके छोटे-छोटे अभिमानोंको ही सर्वोच्च सिंहासनमें नर-रक्तसे अभिषिक्त किये जानेके पाठ, वे अत्यन्त क्षीण और छोटे दिखाई देने लगेंगे। तब लाल-कुरतीवाली अक्षौहिणी सेनाका दम्भ और ऊँचे मस्तूलवाले विशालकाय युद्धपोतोंका औद्धत्य हमारे चित्तको अभिभूत नहीं करेगा, वरन् हमारे मर्मस्थलमें भारतवर्षकी बहुयुगोंकी एक सजल-जलद-गम्भीर ओंकारध्वनि नित्य-जीवनके आदि-सुरको ही जगत्के समस्त कोलाहलके ऊपर जगा देगी। इसे हम किसी भी तरह अस्वीकार नहीं कर सकते। यदि करें, तो इसके विनिमयमें हमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं मिल सकती जिससे हम मस्तक उठाकर खड़े हो सकें और अपनी रक्षा सकें। उससे तो हम केवल तलवारोंकी छटा, वाणिज्यकी घटा, कल-कारखानोंकी सुर्ख आँखें और स्वर्गकी प्रतिस्पर्धा करनेवाला जो ऐश्वर्य उत्तरोत्तर अपने उपकरण-स्तूपको ऊँचा उठाकर आकाशकी सीमा मापनेका ढोंग कर रहा है, उसकी मूर्ति देखकर अपने प्राण-मनमें परास्त-पराभूत ही होते रहेंगे, केवल संकुचित और शंकित होकर संसारके राजपथपर दीन-हीन भिक्षुककी तरह भटकते फिरेंगे।

और फिर, इस बातको भी हम किसी भी हालतमें स्वीकार नहीं करेंगे कि हमने जिसे श्रेय कहा है वह केवल हमारे लिए ही श्रेय है। यह बात भी मिथ्या है कि अक्षम होनेके कारण ही विवशतासे हमें धर्मको वरण करना पड़ा है या अपनी दारिद्रताको छिपानेके कौशल-रूपमें हमें धर्मकी शरण लेनी पड़ी है। प्राचीन संहिताकारोंने मानव-जीवनका जो आदर्श हमारे सामने रखा है वह केवल किसी एक विशेष जातिकी विशेष अवस्थाके लिए ही सत्य हो, ऐसी बात नहीं। वास्तवमें यही एकमात्र सत्य आदर्श है, इसीलिए, यह समस्त मानव-समाजके लिए मङ्गलका हेतु है। प्रथमावस्थामें श्रद्धाके द्वारा, संयमके द्वारा, ब्रह्मचर्यके द्वारा प्रस्तुत होकर, द्वितीय अवस्थामें संसार-आश्रममें मङ्गल-कर्मसे आत्माको परिपुष्ट करना होगा; और फिर तृतीय अवस्थामें उदारतर क्षेत्रमें एक-एक करके समस्त बन्धनोंको शिथिल करके अन्तमें आनन्दके साथ मृत्युको मोक्षके नामान्तर-रूपमें ग्रहण करना होगा। मनुष्यके जीवनको इस

प्रकारसे चलानेसे ही उसका आद्यन्त-सङ्गत पूर्ण-तात्पर्य प्राप्त किया जा सकता है। तभी हम, जो मेघ समुद्रसे उत्पन्न होकर पर्वतोंकी रहस्य-गूढ़ गुफाओंमेंसे नदी-रूपमें प्रवाहित होते हैं और सम्पूर्ण यात्राके शेषमें फिर उसी समुद्रमें पूर्णतर-रूपसे जा मिलते हैं, उन्हें देखकर तृप्ति पाते हैं। मध्य-पथमें, जहाँ कहीं भी हो, उनका अकस्मात् अवसान होना असङ्गत है, असमाप्ति है। इस बातको यदि हम अन्तःकरणसे समझ लें, तो यह बात कहनी ही होगी कि इस सत्यकी उपलब्धि करनेके लिए सम्पूर्ण मानव-समाजको, संसारकी समस्त जातियोंको, नाना पथोंसे नाना आघातोंकी ठोकर खा-खाकर बारम्बार ऐसी चेष्टा करनी ही होगी। इसके आगे विलासियोंके उपकरण, नेशनों या राष्ट्रोंका प्रताप, राजाओंका ऐश्वर्य, वणिकोंकी समृद्धि, सब-कुछ गौण है। कहनेका तात्पर्य यह कि मनुष्यकी आत्माको जयी होना होगा, मनुष्यकी आत्माको मुक्त होना होगा। तभी मनुष्यकी इतने कालकी चेष्टा सार्थक होगी ; नहीं तो, यही एक शंकाध्वनि उठती रहेगी, "ततः किम्, ततः किम्, ततः किम् !"

वि०सं०१३६३]

स्वतन्त्रताका परिणाम

मनुष्यको दोनों तटोंकी रक्षा करते-हुए चलना पड़ता है, एक ओर उसकी अपनी स्वतन्त्रता है और दूसरी ओर अन्य सबोंके साथ मेल, दो परस्पर विपरीत तट हैं। दोनोंमेंसे एकको भी अलग करके हमारा काम नहीं चल सकता, उसमें हमारा मंगल नहीं है।

स्वतन्त्रता मनुष्यके लिए बहुमूल्य है, यह बात उसके व्यवहारसे ही स्पष्ट समझी जा सकती है। धन देकर, प्राण देकर, अपनी स्वतन्त्रताकी रक्षाके लिए मनुष्य क्या-क्या नहीं करता, कौन-कौनसी लड़ाई नहीं लड़ता ! अपनी विशेषताको सम्पूर्ण करनेके लिए वह कहीं भी किसी तरहकी बाधाको नहीं मानना चाहता। इसमें जहाँ भी उसके आगे बाधा आती है वहीं वह वेदनाका अनुभव करता है और वहीं वह क्रुद्ध होता है, लुब्ध होता है, हनन करता है और

हरण करता है। किन्तु हमारी स्वतन्त्रता तो अबाध-गतिसे नहीं चल सकती। प्रथमतः, मनुष्य जिन उपादानों और धन-जनोंको लेकर अपना कलेवर गढ़ना चाहता है उनकी भी अपनी स्वाधीनता है ; हम अपनी इच्छाके अनुसार बाहुबलसे उन्हें अपने काममें नहीं ला सकते। इसलिए हमारी स्वतन्त्रताके साथ उनकी स्वतन्त्रताका समझौता चलता रहता है और बुद्धिकी सहायतासे, विज्ञानकी सहायतासे, हम समझौता कर भी लेते हैं। और इसमें दूसरोंकी स्वतन्त्रताके खातिर अपनी स्वतन्त्रताको कुछ कम बिना किये सफलता नहीं मिलती। तब केवल स्वतन्त्रताको मानकर ही नहीं किन्तु नियम मानकर जयी होनेकी चेष्टा की जाती है।

किन्तु यह तो विवश होकर करना हुआ, इसमें कोई सुख नहीं। किन्तु बिलकुल ही सुख नहीं, ऐसी बात भी नहीं। वाधाओंको यथासम्भव अपने प्रयोजनके अनुगत कर लेनेमें हमारी जो बुद्धि और शक्ति काम आती है उसीमें हमें सुख मिलता है। अर्थात् केवल पानेका सुख नहीं किन्तु काममें लगानेका सुख। इसमें अपनी स्वतन्त्रताका जोर मालूम होता है, स्वतन्त्रताका गौरव अनुभव होता है ; वाधा बिना आये यह बात नहीं होती। इस तरह जो हममें अहंकारकी उत्तेजना पैदा होती है उससे हमारी जीतनेकी इच्छा और प्रतियोगिताकी चेष्टा बढ़ जाती है। पत्थरकी वाधा पाकर झरनाका जल जैसे फेनिल होकर उछलकर उसे लाँघ जाना चाहता है उसी तरह परस्परकी वाधाओंसे हमारी स्वतन्त्रता परस्परको ढकेलकर फूल उठती है। कुछ भी हो, पर है यह लड़ाई ही ; बुद्धिके साथ बुद्धिकी, शक्तिके साथ शक्तिकी, चेष्टाके साथ चेष्टाकी लड़ाई। पहले यह लड़ाई अधिकतर बाहुबलका ही प्रयोग करती थी, तोड़-फोड़कर चकनाचूर करके कार्योद्धार करनेकी चेष्टा करती थी। इससे जिसके लिए लड़ाई होती उसे भी नष्टभ्रष्ट होना होता था और जो लड़ता था वह भी नष्ट हो जाता था ; अपव्ययकी सीमा नहीं रहती थी। उसके बाद बुद्धिने आकर कौशलकी अवतारणा की। इससे, जो ग्रन्थि छेदन करना नहीं चाहता था वह ग्रन्थि मोचन करने बैठ गया। यह काम इच्छाकी अन्धता या अधैर्यसे नहीं हो सकता ; इसे शान्त होकर, संयत होकर, शिक्षित होकर करना

पड़ता है। इसमें जीतनेकी चेष्टा अपने अपव्ययको बन्द करके अपने बलको गुप्त रखकर जयी होती है। झरना जैसे उपत्यकामें पड़कर अपने वेगको कुछ संवरण करके प्रशस्त हो उठता है, हमारा स्वतन्त्रताका वेग भी ठीक वैसे ही बाहुबल त्यागकर, विज्ञानमें आकर, अपनी उग्रता छोड़कर उदारता प्राप्त करता है ; और यह अपने-आप ही होता है। जोर केवल अपनेको ही जानता है, वह दूसरोंको नहीं माना चाहता। किन्तु बुद्धि मात्र अपनी स्वतन्त्रताको लेकर काम नहीं कर सकती ; उसे दूसरोंमें घुसकर सन्धान करना पड़ता है। दूसरोंको वह जितना ही ज्यादा जानेगी उतना ही वह अपना कार्योद्धार कर सकेगी ; और दूसरोंको समझने-जाननेके लिए, उनके दरवाजेमें घुसनेके लिए, अपनेको उनके नियमके अनुगत करना ही होता है। इस तरह स्वतन्त्रताकी चेष्टा जयी होनेकी गरजसे ही पराधीन हुए बिना नहीं रह सकती।

अब तक हममें केवल प्रतियोगिताके रणक्षेत्रमें ही पारस्परिक स्वतन्त्रतामें जयी होनेकी चेष्टा देखनेमें आई है। डरविनका प्राकृतिक निर्वाचन-तत्त्व इस रणभूमिमें लड़ाईका तत्त्व है। यहाँ कोई भी किसीको रिआयत नहीं करता, सभी-कोई 'सबसे बड़ा' होना चाहते हैं। किन्तु क्रोपाटनिक आदि आधुनिक वैज्ञानिकगण कहते हैं कि 'परस्परको जीतनेकी चेष्टा, अपनेको कायम रखनेकी चेष्टा ही प्राणी-समाजकी एकमात्र चेष्टा नहीं है ; दल बनानेकी और परस्परको सहायता करनेकी इच्छा धक्का देकर ऊपर उठनेकी चेष्टासे कम प्रबल नहीं है ; किन्तु वस्तुतः अपनी वासनाओंको कम करके भी परस्परको सहायता करनेकी इच्छा ही प्राणियोंमें उन्नतिका उपाय प्रमाणित हुआ है।' इस तरह हम देखते हैं कि एक ओर प्रत्येककी स्वाधीनताकी स्फूर्ति और दूसरी ओर समग्रके साथ सामंजस्य, ये दोनों नीतियाँ ही एकसाथ काम कर रही हैं। अहंकार और प्रेम, विकर्षण और आकर्षण, दोनों मिलकर सृष्टिको एकसाथ गढ़ रहे हैं।

मनुष्यकी सार्थकता इसीमें है कि वह स्वतन्त्रतामें भी पूर्णता प्राप्त करता रहे और मिलनमें भी अपनेको पूर्ण-रूपसे समर्पण करता रहे। अर्जन करनेमें हमारी परिपुष्टि है, और वर्जन करनेमें हमारा आनन्द है ; संसारमें इन दो विपरीत नीतियोंका मिलन देखनेमें आता है। फलतः, अपनेको यदि हम

पूर्ण-रूपसे संचित न करें, तो अपनेको पूर्ण-रूपसे दान कैसे कर सकेंगे ? और वह कितना-सा दान होगा ? जितना बड़ा अहंकार हो उसे उतने बड़े रूपमें त्यागनेसे ही वह उतना बड़ा प्रेम हो सकता है ।

यह जो मैं हूं, अति क्षुद्र मैं, इतने बड़े संसारमें भी मैं स्वतन्त्र हूं । चारों ओर कितना तेज है, कितना वेग है, कितने पदार्थ हैं, कितने भार हैं, जिनकी सीमा नहीं, किन्तु मेरे अहंकारको यह विश्व-ब्रह्माण्ड चूर्ण नहीं कर सका है, मैं इतना-सा होनेपर भी स्वतन्त्र हूं । मेरे जिस अहंकारने इन सबोंके बीच क्षुद्र मुझको जो अलग ढकेल रखा है, यह अहंकार भी तो ईश्वरके भोगके लिए प्रस्तुत हो रहा है । इसे निःशेष करके उन्हें दे डालना ही तो आनन्दकी चरम सीमा है । इसे जगानेके समस्त दुःसह दुःखोंका तभी तो अवसान है। भगवानकी इस भोगकी सामग्रीको नष्ट कौन करेगा ?

हममें जो-भी-कुछ द्वन्द्व है वह ईश्वरमें अपनी स्वतन्त्रताको सम्पूर्णरूपसे समर्पण करनेसे पूर्वावस्थाका द्वन्द्व है । इसी अवस्थामें एक ओर स्वार्थ होता है तो दूसरी ओर प्रेम, एक ओर प्रवृत्ति होती है तो दूसरी ओर निवृत्ति । इस दोलायमान अवस्थामें, इस द्वन्द्वके बीच ही जो सौन्दर्यको प्रस्फुटित करता रहता है, जो ऐक्यके आदर्शकी रक्षा करता रहता है, उसीको 'मङ्गल' कहते हैं । जो एक ओर अपनी स्वतन्त्रताको और दूसरी ओर अन्योंकी स्वतन्त्रताको स्वीकार करता-हुआ भी परस्परके आघातसे बेसुर नहीं बजने देता, जो स्वतन्त्रताको एक समग्रकी शान्ति प्रदान करता है, जो दो अहंकारोंको एक सौन्दर्यके परिणय-सूत्रमें बाँध रखता है, वही मङ्गल है । शक्ति स्वातन्त्र्यको बढ़ाती है, मङ्गल स्वातन्त्र्यको सुन्दर बनाता है और प्रेम स्वातन्त्र्यको विसर्जन करता है । मङ्गल उस शक्ति और प्रेमके बीचमें रहकर प्रबल अर्जनको एकान्त रूपसे विसर्जनकी ओर ही अग्रसर करता रहता है । इस द्वन्द्वकी अवस्थामें ही मङ्गलकी रश्मियाँ पड़नेसे ही मानव-संसारका सौन्दर्य प्रातःसन्ध्याके मेघोंके समान विचित्र हो उठता है। अपने साथ परका, स्वार्थके साथ प्रेमका जहाँ संघात है वहाँ मङ्गलकी रक्षा करना बड़ा सुन्दर और बड़ा कठिन है । कवित्व जैसा सुन्दर है वैसा ही सुन्दर, और कवित्व जैसा कठिन है वैसा ही कठिन ।

कवि जिस भाषामें कवित्व प्रकट करता है वह भाषा तो उसकी निजकी सृष्टि नहीं है। कविके जन्म लेनेके बहुत पहलेसे ही उस भाषाने अपनी एक विशिष्ट स्वतन्त्रता प्रस्फुटित कर रखी है। कवि जिस भावको जिस रूपमें व्यक्त करना चाहता है, उसकी भाषा ठीक उस रूपमें उसकी बाग नहीं मानती। तब कविके भाव-स्वातन्त्र्य और भाव-प्रकाशके उपाय-स्वातन्त्र्यमें एक द्वन्द्व होता है। यदि वह द्वन्द्व केवल द्वन्द्वके रूपमें ही पाठकोंकी दृष्टिमें पड़ता रहे, तो पाठक काव्यकी निन्दा करता है ; कहता है, भाषाके साथ भावोंका मेल नहीं है। ऐसी अवस्थामें काव्यके शब्द अर्थग्राही होनेपर भी हृदयग्राही नहीं होते, हृदयको तृप्ति नहीं दे सकते। जो कवि भाव-स्वातन्त्र्य और भाषा-स्वातन्त्र्यके अनिवार्य द्वन्द्वको दवाकर सौन्दर्यकी रक्षा कर सकते हैं वे ही धन्य हैं। जो कहनेकी बात है उसे पुरी तरह कहना कठिन है, भाषाकी वाधाके कारण कुछ कहा जाता है तो कुछ नहीं कहा जाता ; किन्तु फिर भी सौन्दर्य प्रस्फुटित करना होगा, कविका यही काम है। भावोंकी जितनी क्षति होती है, सौन्दर्य उससे कहीं अधिक पूर्ति कर देता है। वास्तवमें द्वन्द्वकी वाधा ही मङ्गलके सौन्दर्यको प्रकाशित होनेका अवकाश देती है ; स्वार्थकी क्षति ही क्षतिपूर्तिका प्रधान उपाय हो उठती है।

इस तरह हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता अपनेको सफलता देनेके लिए आप ही खर्वता स्वीकार करती रहती है ; नहीं तो वह विकृतिमें जा पहुंचे, और विकृति विनाशमें ही विराम ले। स्वतन्त्रता जहाँ मंगलका अनुसरण करके प्रेमकी ओर नहीं बढ़ती वहाँ वह विनाशकी ओर ही अग्रसर होती रहती है। यदि वह विकृति अतिवृद्धिके द्वारा हो, तो विश्वप्रकृति उसके विरुद्ध हो उठती है ; और कुछ दिन तक उपद्रव करनेके बाद अन्तमें उसे मरना ही पड़ता है। इसलिए, मनुष्यकी स्वतन्त्रता जब मंगलकी सहायतासे समस्त द्वन्द्वोंको निरस्त करके सुन्दर हो उठती है तभी वह विश्वात्माके साथ मिलनमें सम्पूर्ण आत्म-समर्पणके लिए तैयार होती है। वास्तवमें हमारी दुर्दान्त स्वतन्त्रता मंगल-सोपानसे चढ़कर जब प्रेममें जा पहुंची है तभी वह सम्पूर्ण होती है और समाप्त होती है।

—

[संवत् १९६३

वर्षशेष

पुरातन वर्षका सूर्य पश्चिम-आकाशके प्रान्तमें चुपकेसे अस्त हो गया। जीवनके जो कई वर्ष इस पृथिवीपर बिताये हैं, आज मानो उनकी विदा-यात्रा की नीरव पक्ष-ध्वनि इस निस्तब्ध निर्वाणलोक आकाशमें अनुभव कर रहा हूं। विगत वर्ष अज्ञात समुद्र-पारगामी पक्षीकी तरह कहाँ उड़ गये, कुछ पता नहीं। हे चिरकालके चिरन्तन, अतीत जीवनको यह जो आज विदा दे रहा हूं, इस विदाको तुम सार्थक करो ; और आश्वास दो कि जिसे 'नष्ट हुआ' समझकर मैं शोक कर रहा हूँ, उसका सर्वांश ही यथासमय तुममें सफल हो रहा है। आज जो प्रशान्त विषाद सम्पूर्ण सन्ध्याकाशको आच्छन्न करके हमारे हृदयको आवृत कर रहा है वह सुन्दर हो, मधुमय हो ; उसपर अवसादकी छाया तक न पड़े। आज वर्षावसानके दिन विगत जीवनके लिए हम अपने ऋषि पितामहोंका आनन्दमय मृत्यु-मन्त्र उच्चारण करते हैं—

"ॐ मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्तोषधीः।
मधु नक्तुम् उतोयसो मधुमत् पार्थिवं रजः।
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधूमां अस्तु सूर्यः। ॐ।"

'वायु मधु वहन कर रही है। नदी और सिन्धु मधु क्षरण कर रहे हैं। ओषधि-वनस्पति सब मधुमय हो। रात्रि मधुर हो, ऊषा मधुर हो, पृथिवीकी धूलि मधुमत् हो। सूर्य मधुमान हो।'

रात्रि जैसे आगामी दिवसको नवीन करती है, निद्रा जैसे आगामी जागरणको उज्ज्वल करती है, उसी प्रकार आजका वर्षावसान, जो विगत जीवनकी स्मृतिकी वेदनाको सन्ध्याके झिल्ली-झंकार-सुप्त अन्धकारकी तरह हृदयमें व्याप्त किये दे रहा है, वह नव-वर्षके प्रभातके लिए हमारे आगामी वर्षके आशा-मुकुलको लालन करके विकशित कर दे। जो जाय, वह शून्यता न रख जाय ; वह पूर्णताके लिए स्थान कर जाय। जो वेदना हृदयमें अधिकार करती है वह नवीन आनन्दको जन्म देनेकी वेदना हो। जो विषाद

ध्यानका पूर्वाभास है, जो शान्ति मंगलमय कर्म-निष्ठाकी जननी है, जो वैराग्य उदार प्रेमका अवलम्बन है, जो निर्मल शोक तुम्हारे आगे आत्म-समर्पणका गुरु-मन्त्र है, वह आजकी आसन्न रजनीका अग्रगामी बनकर सन्ध्या-दीपोज्ज्वल गृहमें प्रत्यागत बालककी माकी तरह हमें अपने अंचलमें छिपा ले।

पृथ्वीपर सभी वस्तुएँ आती हैं और जाती हैं; कुछ भी यहाँ स्थिर नहीं है; सब-कुछ चंचल है। वर्षके अन्तमें यही बात तप्त दीर्घ-निश्वासके साथ हृदयमें प्रवाहित होती रहती है। किन्तु जो है, जो चिरकाल स्थिर रहता है, जिसे कोई हरण नहीं कर सकता, जो हमारी अन्तरात्माके अन्तरमें है, विगत वर्षमें उस ध्रुवका क्या कोई परिचय हमें नहीं मिला? हमारे जीवनमें क्या उसका कोई लक्षण चिह्नित नहीं हुआ? सभी क्या आये हैं और चले गये हैं? आज हम स्तब्ध भावसे ध्यान करके कह रहे हैं कि जो आया है और जो गया है उसमें कहीं भी जानेका समर्थ नहीं है। हे निस्तब्ध, वह तुममें ही विधृत है। जो तारे बुझ गये हैं वे तुममें नहीं बुझे, जो पुष्प झर चुके हैं वे तुममें विकशित हैं; हम जिनका विलय देख रहे हैं, तुम्हारे पाससे वे किसी भी कालमें च्युत नहीं हो सकते। आज सन्ध्याके अन्धकारमें शान्त होकर हम तुममें निखिलके उस स्थिरत्वको अनुभव कर रहे हैं। विश्वकी प्रतीयमान चंचलताको, अवसान और विच्छेदको आज बिलकुल ही भूल जाते हैं। विगत वर्ष अपने उड्डीन पक्षपुटमें हमारे किसी प्रयोजनको हरण कर ले गया हो, तो, हे परिणामके आश्रय, हम हाथ जोड़कर सम्पूर्ण हृदयसे उसे तुम्हींको समर्पण करते हैं। जीवनमें जो तुम्हारा था, मृत्युमें भी वह तुम्हारा ही है। हमने उसके साथ 'मेरा' कहकर जो सम्बन्ध स्थापित किया था वह क्षणकालका था, वह छिन्न हो गया है। आज तुममें ही उसके साथ जिस सम्बन्धको स्वीकार कर रहा हूं उसमें तो कोई विच्छेद ही नहीं है। वह भी तुम्हारी गोदमें है और मैं भी तुम्हारी गोदमें हूं। असीम जगदरण्यमें मैं भी नहीं खोया और वह भी नहीं खोया; तुममें अति निकटमें, अति निकटतम स्थानमें उसकी स्थिति अनुभव कर रहा हूं।

विगत वर्षने यदि मेरी किसी चिरपालित आशाको शाखाच्छिन्न कर दिया हो, तो, हे परिपूर्णस्वरूप, आज मैं नत-मस्तक होकर एकान्त धैर्यके साथ उसे तुम्हारे आगे समर्पण करके, क्षत-उद्यमकी भाँति, फिर उसमें जल सींचनेको प्रत्यावृत्त हो रहा हूं। तुम मुझे पराभूत न होने देना। किसी दिन तुम अपनी अचिन्तनीय कृपाके बलसे हमारे असिद्ध साधनोंको अपूर्व-रूपमें सम्पूर्ण करके अपने हाथसे उन्हें मेरे ललाटपर स्थापित करके मुझे विस्मित और चरितार्थ कर दोगे, इसी आशाको मैं अपने हृदयमें ग्रहण करता हूं।

विगत वर्षने कोई भी क्षति, कोई भी अन्याय, कोई भी अवमानना हमारे मस्तकपर क्यों न निक्षेप की हो; और कार्यमें किसी भी वाधा, प्रणयमें किसी भी आघात, जन-समाजमें किसी भी प्रतिकूलताके द्वारा उसने हमें पीड़ित क्यों न किया हो, फिर भी, हम उसे अपने मस्तकपर तुम्हारा ही आशिस्-हस्तस्पर्श जानकर आज उसे प्रणाम करते हैं। विगत वर्षका प्रथम दिवस नीरव स्मित मुखसे अपने वस्त्राञ्चलमें तुम्हारे पाससे हमारे लिए क्या ले आया था, उस दिनने यह हमें नहीं बताया; हमें उसने क्या दान किया, सो भी आज वह हमसे कह नहीं गया; मुँह ढककर चपकेसे दबे-पाँव चला गया। दिन और रातमें, आलोक और अन्धकारमें, उसके सुख-दुःखके दूत हमारे हृदयकी गुफामें क्या संचित कर गये, इस विषयमें हममें अनेक भ्रम हैं, हम निश्चित कुछ भी नहीं जानते। किसी एक दिन तुम्हारे आदेशसे उस भण्डारका द्वार उद्घाटित होनेपर जो-कुछ हम देखेंगे उसके लिए पहलेसे ही आज सन्ध्यामें वर्षावसानको शक्तिके साथ प्रणति करके हम कृतज्ञताके साथ विदाई-सम्भाषण निवेदन कर रहे हैं। वर्षशेषकी इस शुभ सन्ध्यामें, हे नाथ, तुम्हारी क्षमाको शिरोधार्य करके हम संसारके सबोंको क्षमा करते हैं, तुम्हारे प्रेमको हृदयमें अनुभव करके सबसे प्रीति करते हैं, तुम्हारे मङ्गल-भावका ध्यान करके सबके लिए मङ्गल-कामना करते हैं। और प्रार्थना करते हैं कि आगामी वर्ष धैर्यके साथ हम सब-कुछको सहन करते रहें, वीर्यके साथ कर्म करते रहें, आशाके साथ प्रतीक्षा करते रहें, आनन्दके साथ त्याग करते रहें और भक्तिके साथ सर्वदा सर्वत्र संचरण करते रहें।

— [वि०सं०१९५८

नववर्ष

जिन अक्षरपुरुषको आश्रय करके 'अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति', दिन और रात्रि, पक्ष और मास, ऋतु और संवत्सर विधृत-हुए अवस्थित हैं, उन्होंने आज नववर्षकी प्रथम प्रातः सूर्यकिरणोंसे हमारा स्पर्श किया है । इस स्पर्शके द्वारा वे अपने ज्योतिर्लोकमें, अपने आनन्दलोकमें हमारे लिए नववर्षका आह्वान प्रेरण कर रहे हैं । उन्होंने अभी-अभी कहा है, 'पुत्र, इस नीलाम्बर - वेष्टित तृण-धान्य-श्यामल धरणीमें तुम्हें जीवन धारण करनेका वर दिया ; तुम आनन्दित होओ, तुम बल लाभ करो ।'

इस प्रान्तर और पुण्य-निकेतनमें नववर्षके प्रथम निर्मल आलोकसे हमारा अभिषेक हो गया । यह हमारे नवजीवनका अभिषेक है । मानव-जीवनके जिस महोच्च सिंहासनमें विश्व-विधाताने हमें बैठनेका स्थान दिया है उसे हम आज नव-गौरवसे अनुभव करेंगे । हम कहेंगे, 'हे ब्रह्माण्डपति, यह जो अरुण-राग-रंजित नीलाकाशके तले हम जाग्रत हुए हैं, इससे हम धन्य हुए । यह जो चिर-पुरातन वसुन्धराको हम देख रहे हैं, इससे हम धन्य हुए । यह जो गीत - गन्ध - वर्ण - स्पन्दनसे आन्दोलित विश्व-सरोवरमें हमारा चित्त-शतदल ज्योतिःपरिप्लावित अन्तरकी ओर उद्भिन्न हो रहा है, इससे हम धन्य हुए । आजके प्रभातमें यह जो ज्योतिर्धारा हमपर वर्षित हो रही है, इसमें तुम्हारा अमृत है ; वह व्यर्थ नहीं होगा, उसे हम ग्रहण करेंगे । यह जो वर्षा-धौत विशाल पृथिवीकी विस्तीर्ण श्यामलता है, इसमें तुम्हारा अमृत व्याप्त है, वह व्यर्थ नहीं होगा, उसे हम ग्रहण करेंगे । यह जो निश्चल महाकाश हमारे मस्तकपर अपना स्थिर हस्त स्थापन किये-हुए है, वह तुम्हारे ही अमृत-भारसे निस्तब्ध है, वह व्यर्थ नहीं होगा, उसे हम ग्रहण करेंगे । इस महिमान्वित जगत्में आजका यह नववर्षका दिन हमारे जीवनमें जो गौरव वहन कर लाया है, इस पृथिवीमें वास करनेका गौरव, इस आलोकमें विचरण करनेका गौरव, इस आकाशके तले आसीन होनेका गौरव, उसे यदि हम परिपूर्ण-रूपसे ग्रहण करें, तो फिर हमारे लिए कोई विषाद नहीं, कोई निराशा नहीं, कोई भय नहीं, यहाँ तक कि मृत्यु भी नहीं । फिर हम इस ऋषि-वाक्यको समझ जायेंगे—

"कोह्येवान्यात् क : प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ।"

आकाशको परिपूर्ण किये-हुए वे आनन्दित हैं, इसीसे हमारे हृदय स्पन्दित हैं, हमारा रक्त प्रवाहित है, हमारी चेतना तरंगित है। वे आनन्दित हैं, इसीसे सूर्यलोकके विराट यज्ञ-होममें अग्नि-उत्स उत्सारित है ; वे आनन्दित हैं, इसीसे पृथिवीके सर्वाङ्गको परिवेष्टिन किये-हुए तृणदल समीरणसे कम्पित हो रहा है ; वे आनन्दित हैं, इसीसे ग्रह-नक्षत्रोंमें आलोकका अनन्त उत्सव है। हमारी अन्तरात्मामें वे आनन्दित हैं, इसीसे हम हैं ; इसीसे हम ग्रह-नक्षत्रोंके साथ लोक-लोकान्तरके साथ, अविच्छेद्य-रूपसे विजड़ित हैं ; उनके आनन्दसे हम अमर हैं, समस्त विश्वके साथ हमारी समान मर्यादा है।

आज नववर्षके दिन हम इसी बातकी उपलब्धि करते हैं कि उनकी प्रति-निमेषकी इच्छा ही हमारे लिए प्रतिक्षणका अस्तित्व है। उनके अक्षय आनन्दको यदि हम स्तब्ध-गम्भीर-भावसे अपनी अन्तरात्मामें उपभोग करें, तो संसारकी किसी भी वाह्य घटनाको हम अपनेसे प्रबलतर समझकर अभिभूत नहीं होंगे। कारण घटनावली अपने सुख-दुःख विहर-मिलन हानि-लाभ जन्म-मृत्युको लेकर क्षण-क्षणमें हमें स्पर्श करती और हट जाती है। और वृहत्तम विपत्ति भी कितने समयकी है, महत्तम दुःख ऐसा कितना बड़ा है, दुःसहतम विच्छेद भी हमारा कितना-सा हरण कर सकता है! उनका आनन्द तो रहता ही है ; दुःख उस आनन्दका ही रहस्य है, मृत्यु उस आनन्दका ही रहस्य है। इस रहस्यको हम भेद न कर सके तो न सही, हमारी बोधशक्तिमें यह शाश्वत आनन्द इतना विपरीत और विविध रूपमें क्यों प्रतीयमान होता है इसे न जान सके तो न सही ; किन्तु इस बातको यदि निश्चित जान जायें कि एक क्षण भी सर्वत्र वह परिपूर्ण आनन्द न रहे तो सब-कुछ ही उसी क्षण छायाकी तरह विलीन हो जायगा, उस सर्बव्यापी आनन्दसे ही ये समस्त प्राणी जन्म ले रहे हैं, उससे ही सब जी रहे हैं, उसमें ही सब गमन करते हैं, तो, 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचन', अपनेमें और अपने बाहर उस ब्रह्मके आनन्दको जानकर किसी भी अवस्थामें फिर हम भय नहीं पायेंगे।

स्वार्थकी जड़ता और पापका आवर्त ब्रह्मके इस नित्य-विराजमान आनन्दकी

अनुभूतिसे हमें वंचित कर देता है। तब सहस्र राजा हमसे कर लेनेको उद्यत हो जाते हैं, सहस्र प्रभु हमें सहस्र कार्योंमें चारों ओर दौड़ाते रहते हैं। तब जो-कुछ हमारे सामने आ जाता है वही बड़ा हो जाता है ; तब सभी विरह हमें व्याकुल कर देते हैं और सभी विपत्तियाँ हमें विभ्रान्त कर देती हैं। कारण तब सभी घटनाको हम चरम समझनेका भ्रम कर बैठते हैं। लोभका विषय सामने आते ही ऐसा लगता है कि उसे पाये बिना काम ही नहीं चल सकता, वासनाका विषय सामने आते ही मालूम होता है कि उसके पानेमें ही हमारी चरम सार्थकता है। क्षुद्रताके इन सब अविश्राम क्षोभोंमें 'भूमा' हमारी दृष्टिसे अगोचर हो जाता है, और प्रत्यक्ष तुच्छ घटनाएँ ही पद-पदपर हमें अपमानित करती चली जाती हैं। इसीलिए हमारी प्रतिदिनकी प्रार्थना यह है कि "असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय।" असत्यसे मुझे सत्यमें ले चलो ; प्रति-निमेषकी खण्डतासे तुम मुझे अपनी अनन्त परिपूर्णतामें पहुंचा दो। अन्धकारसे मुझे ज्योतिमें ले चलो ; अहंकारका जो अन्तराल है, विश्वजगत् मेरे सामने जो भिन्नता लेकर आ खड़ा होता है, अपनेको और विश्वजगत्को तुम्हारे भीतरसे न दिखाई देनेका जो अन्धकार है उससे मुझे मुक्त करो। मृत्युसे मुझे अमृतमें ले चलो ; मेरी प्रवृत्ति मुझे मृत्युके झूलेमें झुला रही है, क्षणमात्र भी अवसर नहीं देती, मेरे भीतर मेरी इच्छाओंको खर्व करके तुम मेरी अन्तरात्मामें अपने आनन्दको प्रकाशमान कर दो। वह आनन्द ही अमृतलोक है।

आजके नववर्षके दिन यही हमारी विशेष प्रार्थना है। सत्य, आलोक और अमृतके लिए आज हम कर जोड़कर खड़े हैं। कहते हैं, "हे स्वप्रकाश, तुम हमारी अन्तरात्मामें प्रकाशित होओ।" भीतर और बाहर तुम्हारे उद्भासित होते ही प्रवृत्तिका दासत्व और जगत्का उपद्रव न-जाने कहाँ विलीन हो जाता है, और तब तुममें समस्त देश-कालका एक अविच्छिन्न, सामंजस्य एक परिपूर्ण समाप्ति देखकर उस सुगभीर शान्तिमें हम निमग्न और निस्तब्ध हो जाते हैं। तब, जिस चेष्टाहीन बलसे समस्त जगत् सहज ही में विधृत है वह हमारे हृदयमें अवतीर्ण होता है और जिस चेष्टाहीन सौन्दर्यसे निखिल

भुवन परस्परमें ग्रथित है वह हमारे जीवनमें आविर्भूत होता है। तब यह बात भी हम भूल जाते हैं कि हम तुम्हें आत्म-समर्पण कर रहे हैं। केवल यही एक बात याद रहती है कि तुम अपने सम्पूर्ण जगत्के साथ-साथ ही हमें भी ग्रहण कर रहे हो।

वह स्वप्रकाश जब तक हममें अपनेको प्रकट नहीं करता तब तक अपने भीतरसे उसकी ओर अग्रसर होनेका एक द्वार उन्मुक्त रहे, जिससे उस पथसे प्रतिदिन प्रभातमें जाकर हम अपनेको उत्सर्ग कर आया करें। हमारे जीवनके एक दिनके साथ और-एक दिनका जो बन्धन है वह केवल स्वार्थका ही बन्धन न हो, जड़ अभ्यास-सूत्रका ही बन्धन न हो ; एक वर्षके साथ और-एक वर्षको हम अपने प्रात्यहिक निवेदनके द्वारा उसी स्वप्रकाशके सम्बन्धसे आबद्ध करके सुसम्पूर्ण करनेमें सफल हों। ऐसे किसी सूत्रमें मानव-जीवनके दुर्लभ क्षणोंको न बाँधते रहें जो मृत्युके स्पर्शमात्रसे विच्छिन्न हो जाता है। जीवनका जो वर्ष चला गया उसे हम पूजाके पद्मकी भाँति उन्हें उत्सर्ग नहीं कर सके, उसके तीन सौ पैंसठ दनोंको ही हमने दिन-दिन छिन्न करके पङ्कमें डाल दिया है। किन्तु आज नववर्षका प्रथम अनुद्घाटित मुकुल सूर्यके आलोकमें मस्तक उठा रहा है, इसे हम खण्डित नहीं करेंगे, सौन्दर्य सौगन्ध्य और शुभ्रतासे इसे हम सम्पूर्ण कर देंगे। यह हमारे लिए असाध्य कदापि नहीं है, इतनी शक्ति हममें है। "नात्मानमवमन्यते", अपनी अवज्ञा न करो। "न ह्यात्मपरिभूतस्य भूतिर्भवति शोभना।" अपनेको जो व्यक्ति दीन समझकर अवमान करता है उसे कभी भी शोभन ऐश्वर्यकी प्राप्ति नहीं होती।

धर्मका जो आदर्श सर्वश्रेष्ठ है, जिस आदर्शमें ब्रह्मकी ज्योति विशुद्धरूपसे प्रतिफलित होती है, वह कल्पनागम्य असाध्य नहीं है। उसकी रक्षा करनेका तेज हममें है ; अपनेको जाग्रत कर रखनेकी शक्ति हममें है ; और जाग्रत रहनेसे अन्याय असत्य हिंसा ईर्षा प्रलोभन आदि द्वारके पास आकर भी दूर चले जाते हैं। हम भय त्याग सकते हैं, हीनता छोड़ सकते हैं, यहाँ तक कि प्राण भी विसर्जन कर सकते हैं। इतनी क्षमता हममेंसे प्रत्येकमें है। केवल दीनताके कारण ही हम उस शक्तिमें अविश्वास करते हैं, इसलिए उसे व्यवहारमें

नहीं ला सकते। वह शक्ति हमें कैसे भूमानन्दमें, कैसी चरम चरितार्थतामें ले जा सकती है, इस बातको हम नहीं जानते, इसीसे आत्माकी उस शक्तिको हम स्वार्थमें, व्यर्थ चेष्टामें और पापके आयोजनमें लगाते रहते हैं। समझते हैं कि अर्थ-प्राप्तिमें ही हमारा चरम सुख है, वासनाओंकी तृप्तिमें ही हमारा परम आनन्द है और इच्छाओंकी बाधा मिटानेमें ही हमारी परम मुक्ति है। हमारी जो शक्ति चारों ओर विक्षिप्त हुई पड़ी है उसे एकाग्र-धारामें ब्रह्मकी ओर प्रवाहित कर देनेसे जीवनका कर्म सहज हो जाता है, सुख-दुःख सहज हो जाता है और मृत्यु सहज हो जाती है। वह शक्ति हमें वर्षाके स्रोतकी तरह अनायास ही वहन कर ले जाती है। दुःख-शोक विपद्-आपद् बाधा-विघ्न उसके मार्गके आगे बाणतृणके समान मस्तक नवा देते हैं, उसे प्रतिहत नहीं कर सकते।

फिर कहता हूं कि यह शक्ति हममें है। केवल चारों ओर बिखरी होनेसे ही उसपर हम अपना समस्त भार समर्पण करके गति प्राप्त नहीं कर सकते। अपनेको प्रतिदिन अपने-आप ही वहन करना पड़ता है। प्रत्येक कार्य हमारे ही कंधोंपर आ पड़ता है; और प्रत्येक कार्यका आशा-निराशा-हानि-लाभका ऋण हमें आखिरी कौड़ी तक स्वयं ही चुकाना पड़ता है। स्रोतपर जैसे माझीकी नाव रहती है और नावपर उसका सम्पूर्ण बोझ रहता है, उसी तरह ब्रह्मके प्रति जिनका चित्त एकाग्ररूपसे धावमान है उनका सम्पूर्ण संसार इस परिपूर्ण भावके स्रोतमें बहता चला जाता है, कोई बोझ उनके कंधेको पीड़ित नहीं करता।

नववर्षके इस प्रातःसूर्यालोकमें खड़े होकर आज हम अपने हृदयको चारों ओरसे आह्वान करते हैं। भारतवर्षका जो पैतृक मंगल-शंख घरके एक कोनेमें उपेक्षित-हुआ पड़ा है, आज हम उसे अपने सम्पूर्ण प्राणोंका निश्वास भरकर फूंकते हैं। उस मधुर-गम्भीर शंख-ध्वनिको सुनकर हमारा विक्षिप्त चित्त अहंकारसे, स्वार्थसे, विलाससे, प्रलोभनसे बाहर निकल आयेगा। आज शतधारा एकधारा होकर गोमुखीके मुखसे निःसृत समुद्र-वाहिनी गंगाके समान प्रवाहित होगी; और तब क्षणमात्रमें प्रान्तर-शायी यह निर्जन तीर्थ सचमुच ही हरिद्वार तीर्थ हो उठेगा।

हे ब्रह्माण्डपति, आज नववर्षके प्रभातमें तुम्हारे ज्योतिःस्नात तरुण सूर्यने पुरोहित बनकर चुपकेसे हमारा आलोकका अभिषेक सम्पन्न कर दिया। हमारे ललाटपर आज आलोकने स्पर्श किया है। हमारी दोनों आँखें आज आलोकसे धुल गई हैं। हमारा मार्ग आज आलोकसे रञ्जित हो गया है। हमारा सदा-जाग्रत हृदय आज व्रत ग्रहण करनेके लिए तुम्हारे सामने आ बैठा है। हमारे शरीरको तुम्हारे जिस समीरणने स्पर्श किया है उसे हम प्रतिदिन पवित्र रखकर तुम्हारे ही कर्ममें नियुक्त करते रहें। जिस मस्तकपर तुम्हारी प्रभात-किरणें वर्षित हुई हैं उस मस्तकको भय लज्जा और हीनताकी अवनतिसे बचाकर हम तुम्हारी ही पूजामें प्रणत करते हैं। तुम्हारी नाम-गानकी धाराने आज प्रभातमें जिस हृदयको पुण्य-जलसे स्नान कराया है वह आनन्दसे पापका परिहार कर सके, आनन्दसे तुम्हारे कल्याण-कर्ममें जीवनको उत्सर्ग कर सके, आनन्दसे दरिद्रताको अपना भूषण बना सके, आनन्दसे दुःखको महीयान कर सके और आनन्दसे मृत्युको अमृत-रूपमें वरण कर सके। आजके प्रभातको कल हम भूल न जायें। प्रतिदिनका प्रातःसूर्य हमें कभी लज्जित न देखे; उसका निर्मल आलोक हमारी निर्मलताका और उसका तेज हमारे तेजका साक्षी हो जाय; और प्रत्येक सन्ध्याकालमें हम अपने प्रत्येक दिनको निर्मल अर्घ्यकी भाँति उसके रक्तिम स्वर्ण-थालमें वहन करके तुम्हारे सम्मुख स्थापित कर सकें। हे पिता, हमारे भीतर नियतकाल तुम्हारा जो आनन्द स्तब्ध हुआ विराज रहा है, जिस आनन्दमें तुमने हमें निमेषमात्रके लिए भी परित्याग नहीं किया, जिस आनन्दमें तुम हमारी जगत्-जगत्में रक्षा कर रहे हो, जिस आनन्दमें सूर्योदय प्रतिदिन ही हमारे लिए अपूर्व है और सूर्यास्त प्रति-सन्ध्यामें ही हमारे लिए रमणीय है, जिस आनन्दमें अज्ञात भुवन हमारा आत्मीय और अगण्य नक्षत्र हमारी सुप्त रात्रिकी मणिमाला है, हे आनन्दघन, ऐसा करो कि हम कभी भी प्रवृत्तिके क्षोभमें, पापकी लज्जामें, अपनी अन्तरात्मामें तुम्हारे उस आनन्द-मन्दिरका द्वार अपने तईं बन्द रखकर पथके पंकमें यदृच्छा लुण्ठित होनेको ही अपना सुख और अपनी स्वाधीनता समझनेकी कभी भूल न करें। जगत् तुम्हारा जगत् है, आलोक तुम्हारा आलोक है, प्राण तुम्हारा निश्वास

है, इस बातको याद रखकर हम जीवन-धारणका जो पवित्र गौरव है उसके अधिकारी बनें ; अस्तित्वका जो अपार अज्ञेय रहस्य है उसे वहन करनेके उपयुक्त बनें ; और प्रतिदिन हम तुम्हारा यह कहकर ध्यान करें—

"ॐ भूर्भवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियोयोनः प्रचोदयात् ।"

'विश्व-सविता इस सम्पूर्ण भूलोक भुवर्लोक स्वर्लोकको जैसे प्रत्येक निमेषमें ही प्रकाशमें प्रेरण कर रहे हैं उसी प्रकार वे मेरी बुद्धिवृत्तिको प्रति-निमेषमें प्रेरण कर रहे हैं ; उनके द्वारा प्रेरित इस जगत्से उस जगदीश्वरकी उपलब्धि करता हूँ, उनके द्वारा प्रेरित इस बुद्धिसे उस चेतनस्वरूपका ही ध्यान करता हूँ। ॐ एकमेवाद्वितीयम् ।

[वि०सं०१९५९

—

उत्सवका दिन

प्रभातमें अन्धकारको छिन्न करके ज्यों ही आलोक फूट निकलता है त्यों ही वन-उपवनोंमें पक्षियोंका उत्सव आरम्भ हो जाता है। यह किस बातका उत्सव है ? क्यों विहंगोंका दल नाच-नाचकर गा-गाकर ऐसा चञ्चल हो उठता है ? इसलिए कि प्रत्येक प्रभातमें वे नूतन-रूपमें अपनी प्राण-शक्तिका अनुभव करते हैं। देखनेकी शक्ति, उड़नेकी शक्ति, खाद्य सन्धान करनेकी शक्ति उनमें जाग्रत होकर उन्हें गौरवान्वित कर देती है। आलोकमें उद्भासित इस विचित्र विश्वमें वे अपने प्राणवान गतिवान चेतनावान पक्षी-जन्मकी सम्पूर्ण-रूपसे उपलब्धि करके अन्तरके आनन्दको संगीतके उत्सवमें उत्सारित करते हैं।

जगत्में जहाँ अव्याहत शक्तिका प्राचुर्य है वहीं मानो मूर्तिमान उत्सव है। इसीलिए हेमन्तकी सूर्य-किरणोंमें पके धानके खेतोंमें सुनहला उत्सव हिल्लोलित होता रहता है ; इसीलिए आम्र-मञ्जरीकी निविड़ गन्धसे व्याकुल नव-वसन्तमें पुष्प-विचित्र कुञ्जवनोंमें उत्सवका उत्साह उद्दाम हो उठता है। प्रकृतिमें इस प्रकार हम नाना स्थानोंमें नाना रूपसे शक्तिका जयोत्सव देखा करते हैं।

मनुष्यका उत्सव कब होता है ? मनुष्य जिस दिन अपनी मनुष्यत्वकी

शक्तिका विशेषरूपसे स्मरण करता है, विशेषरूपसे उपलब्धि करता है, उस दिन। जिस दिन हम अपनेको प्रात्यहिक प्रयोजनोंके द्वारा चालित करते हैं उस दिन नहीं ; जिस दिन सांसारिक सुख-दुःखोंके द्वारा चालित करते हैं उस दिन नहीं ; जिस दिन प्राकृतिक नियम-परम्पराके हाथ अपनेको खेलके खिलौनेकी तरह क्षुद्र और जड़-रूपमें अनुभव करते हैं उस दिन नहीं। उस दिन तो हम जड़वत् हैं, उद्भिद और साधारण जन्तुके समान हैं ; उस दिन तो हम अपनेमें सर्वजयी मानव-शक्तिका अनुभव नहीं करते, फिर उस दिन हमारा आनन्द किस बातका ? उस दिन हम घरमें बन्द हैं, काम-काजसे क्लिष्ट है ; उस दिन हम उज्ज्वल रूपसे अपनेको भूषित नहीं करते, उस दिन हम उदारभावसे किसीका आह्वान नहीं करते, उस दिन हमारे घरोंमें संसारचक्रकी घर्घरध्वनि सुनाई देती रहती है, संगीत नहीं सुनाई देता। प्रतिदिन ही मनुष्य क्षुद्र है, दीन है और एकाकी है ; किन्तु, उत्सवके दिन मनुष्य विशाल है, उस दिन वह सम्पूर्ण मनुष्यत्वकी शक्तिका अनुभव करके महान है।

हे भ्रातृगण! आज मैं तुम सबको भाई कहकर सम्बोधन कर रहा हूं। आज आलोक जल उठा है, संगीत ध्वनित हो रहा है, सब द्वार खुल गये हैं। आज मनुष्यत्वका गौरव हम सबको स्पर्श कर गया है, आज हम सब मिलकर एक हैं। आज अतीतके सहस्रों वर्षोंकी अमृतवाणी हमारे कानोंमें ध्वनित हो रही है, आज अनागत सहस्र वर्ष हमारे कण्ठस्वरको वहन करनेके लिए सामने खड़े प्रतीक्षा कर रहे हैं। आज हमारा काहेका उत्सव है ? शक्तिका उत्सव है। मनुष्यमें कैसी आश्चर्यकारी शक्ति कैसे आश्चर्यजनक रूपमें प्रकाशित है! अपने समस्त क्षुद्र प्रयोजनोंको अतिक्रम करके मनुष्य कितना ऊंचा पहुंच गया है! ज्ञानी ज्ञानके कैसी दुर्लक्ष्य दुर्गमतामें धावमान हुआ है, प्रेमी प्रेमके कैसे परिपूर्ण आत्म-विसर्जनमें जाकर उत्तीर्ण हुआ है! कर्मी कर्मके कैसे अश्रान्त दुःसाध्य-साधनमें निर्भयताके साथ प्रवेश करता चला गया है! ज्ञानमें प्रेममें कर्ममें मनुष्यने जिस अपरिमेय शक्तिका प्रकाश किया है, आज हम उस शक्तिका गौरव स्मरण करके उत्सव मनायेंगे। आज हम अपनेको, व्यक्ति-विशेषको नहीं, मनुष्य जानकर धन्य होंगे।

मनुष्यके समस्त प्रयोजनोंको दुरूह करके ईश्वरने मनुष्यका गौरव बढ़ाया है। पशुके लिए जहाँ-तहाँ घास बिछी पड़ी है, किन्तु मनुष्यको अन्नके लिए प्राणपण चेष्टा करनी पड़ती है। प्रतिदिन हम जो अन्न ग्रहण कर रहे हैं उसके पीछे मनुष्यकी बुद्धि, उद्यम और उद्योग है ; हमारी अन्न-मुष्टि हमारा गौरव है। पशुके गात्र-वस्त्रका अभाव एक दिनके लिए भी नहीं है। मनुष्य नग्नावस्थामें जन्म लेता है, और अपनी शक्तिसे अपने अभावपर जयी होकर अंग ढकता है ; कारण गात्रवस्त्र मनुष्यका गौरव है। आत्मरक्षाके उपाय साथ लेकर मनुष्य भूमिष्ठ नहीं हुआ, उसे अपनी शक्तिसे अपने लिए अस्त्र बनाने पड़े हैं। कोमल त्वचा और दुर्बल शरीरसे मनुष्यने जो आज समस्त प्राणी-समाजमें अपनेको जयी किया है, यह मानव-शक्तिका गौरव है। मनुष्यको दुःख देकर ईश्वरने उसे सार्थक किया है, उसे अपनी पूर्ण शक्ति अनुभव करनेका अधिकारी बनाया है।

मनुष्यकी यह शक्ति यदि अपने प्रयोजन-साधनकी सीमामें सार्थकता प्राप्त करती, तो भी, इतना हमारे लिए यथेष्ट होता, तो भी हम जगत्‌के समस्त जीवोंपर अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर सकते थे। किन्तु हमारी शक्तिमें किस महासमुद्रसे यह कैसा ज्वार आया, जो हमारे समस्त अभावोंके तटको लाँघकर समस्त प्रयोजनोंकी सीमा छोड़कर, अहोरात्र अक्लान्त उद्यमसे हमें न-जाने कहाँ किस असीमके राज्यमें, किस अनिर्वचनीय आनन्दकी ओर बहाये लिये जा रहा है ! जिसे जाननेके लिए मनुष्य सब-कुछ त्याग रहा है उसे जाननेकी इसे क्या आवश्यकता है ? जिसके आगे आत्म-समर्पण करनेके लिये इसकी सम्पूर्ण अन्तरात्मा व्याकुल हो उठी है उसके साथ इसका आवश्यक सम्बन्ध कहाँ है ? जिसका कर्म करनेके लिए यह अपना आराम, स्वार्थ, यहाँ तक कि प्राणोंको भी तुच्छ कर रहा है, उसके साथ इसके लेन-देनका हिसाब लिखा कहाँ रहता है ? आश्चर्य है ! यही आश्चर्य है। आनन्द है। यही आनन्द है। जहाँ मनुष्यका सब-कुछ प्रयोजनकी सीमासे बाहर चला गया है वहीं मनुष्यकी गभीरतम सर्वोच्चतम शक्ति सर्वदा ही अपनेको स्वाधीन-आनन्दमें विलीन कर देनेकी चेष्टा कर रही है। जगत्‌में अन्यत्र कहीं भी इसकी तुलना नहीं

देखनेमें आती। मनुष्य-शक्तिका यह प्रयोजनातीत परम गौरव आजके इस उत्सवमें आनन्द-संगीतमें ध्वनित हो रहा है। इस शक्तिने अभावोंपर विजय पाई है, भय और शोकपर विजय पाई है, मृत्युपर विजय पाई है। आज हम अतीत और भविष्यके सुमहान मानव-लोककी ओर दृष्टिपात करके मानवात्मामें इस अभ्रभेदी चिरन्तन शक्तिको प्रत्यक्ष करके अपनेको सार्थक करेंगे।

किसी दिन, न-जाने कितने सहस्र वर्ष पूर्व, मनुष्यने यह बात कही थी—

"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।"

'मैं उस महान पुरुषको जान गया हूं जो ज्योतिर्मय हैं, जो अन्धकारके पर-पारवर्ती हैं।' इस प्रत्यक्ष पृथिवीमें यही हमारे लिए जानना आवश्यक है कि कहाँ हमारा खाद्य है, कहाँ हमारे खादक हैं, कहाँ हमारे लिए आराम है, कहाँ हमारे लिए व्याघात हैं ; किन्तु, इन सब जाननेको बहुत दूर पीछे छोड़कर मनुष्य चिर-रहस्य-अन्धकारके न-जाने किस पर-पारकी ओर, किस ज्योतिर्लोककी ओर किस प्रत्याशामें चलता चला जा रहा है! मनुष्यने यह जो अपने समस्त प्रत्यक्ष प्रयोजनोंके अभ्यन्तरमें भी उस तिमिरातीत ज्योतिर्मय महान पुरुषको जाना है, आज हम मनुष्यके उस आश्चर्यमय ज्ञानके गौरवको लेकर उत्सव मनाने बैठे हैं। जिस ज्ञानकी शक्ति किसी संकीर्णतासे, किसी नित्य-नैमित्तिक आवश्यकतासे बद्ध होना नहीं चाहती, जिस ज्ञानकी शक्ति केवल मुक्तिके आनन्दकी अनुभुति-उपलब्धि करनेके लिए असीममें परम साहसके साथ पंख पसार देती है, जो तेजस्वी ज्ञान अपनी शक्तिको किसी भी प्रयोजन साधनके उपाय-स्वरूपमें नहीं किन्तु चरम शक्ति-रूपमें ही अनुभव करनेके लिए अग्रसर है, आज हम मनुष्यमें उस ज्ञानको, उस शक्तिको स्पर्श करके कृतार्थ होंगे। सहस्र-सहस्र वर्ष पूर्व मनुष्यने एक दिन कहा था, "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।" 'ब्रह्मके आनन्दको जिन्होंने जान लिया है वे कहीं किसीसे भी भय नहीं पाते।' इस संसारमें जहाँ प्रबल दुर्बलका पीड़न कर रहा है, जहाँ व्याधि-विच्छेद-मृत्यु प्रतिदिनकी घटना है, विपत्तियाँ जहाँ अदृश्य रहकर प्रति पदक्षेपमें हमारी प्रतीक्षा करती रहती हैं, और प्रतिकारके उपाय जहाँ अधिकांश स्थलोंमें हमारे आयत्तमें नहीं हैं, वहाँ, मनुष्य समस्त

प्राकृतिक नियमोंके ऊर्ध्वमें अपना मस्तक उठाकर यह क्या बात कह रहा है, 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन !' आज हम दुर्बल मनुष्यके मुखकी इस प्रबल अभयवाणीको लेकर उत्सव मनाने बैठे हैं। सहस्र-शीर्ष भयके कराल कवलके सामने खड़े होकर जो मनुष्य अकुण्ठित चित्तसे कह सका है कि ब्रह्म हैं, कोई भय नहीं है, आज हम अपनेको उस मनुष्यके अन्तर्गत जानकर गौरव लाभ करेंगे। सहस्र-सहस्र वर्ष पूर्वकी उच्चारित यह अमृत-वाणी आज भी हमारी अन्तरात्मामें ध्वनित हो रही है, "तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मात् अन्तरतर यदयमात्मा।" अन्तरतर यह जो आत्मा है, यह पुत्रसे प्रिय है, वित्तसे प्रिय है, अन्य समस्तसे प्रिय है।

सन्तानके लिए हमने मनुष्यको दुःसाध्य कर्ममें प्रवृत्त होते देखा है, बहुधा जन्तुको भी ऐसा करते देखा है ; स्वदेशीय-स्वदलके लिए भी हमने मनुष्यको दुरूह चेष्टाका प्रयोग करते देखा है। चींटी और मधुमक्खियोंमें ऐसी प्रवृत्ति देखी गई है। किन्तु मनुष्यका कर्म जहाँ अपनेको, अपनी सन्तान और अपने दलको भी अतिक्रम कर गया है वहीं हमने मनुष्यत्वकी पूर्णशक्तिके विकाशमें परम गौरव लाभ किया है। बुद्धदेवकी करुणा सन्तान-वात्सल्य नहीं है, देशानुराग भी नहीं है ; बछड़ा जैसे अपनी माके भरे-हुए स्तनसे दूध खींच लेता है वैसे क्षुद्र अथवा महत् किसी भी श्रेणीकी स्वार्थ-प्रवृत्ति उस करुणाको आकर्षित नहीं कर रही है। वह तो जल-भाराक्रान्त निविड़ मेघके समान अपने प्रभूत प्राचुर्यसे अपनेको बिना किसी भेद-भावके सर्व लोकपर वर्षित कर रही है। यही परिपूर्णताका चित्र है, यही ऐश्वर्य है। ईश्वर प्रयोजनवश नहीं किन्तु शक्तिके अपरिसीम प्राचुर्यवश ही अपनेको बिना किसी भेदके विश्व-रूपमें निरन्तर दान कर रहे हैं। मनुष्यमें भी जब हम वैसी शक्तिका प्रयोजनातीत प्राचुर्य और स्वतःप्रवृत्त उत्सर्जन देखते हैं तो उसी क्षण मनुष्यमें हम ईश्वरका प्रकाश विशेष-रूपसे अनुभव करते हैं। बुद्धदेवने कहा है—

"माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एकपुत्तमनुरक्खे।
एवंपि सब्बभूतेसु मानसंभावये अपरिमाणं।
मेत्तंच सब्बलोकस्मिं मानसंभावये अपरिमाणं।

उद्धं अधो च तिरियंच असंबाधं अवेरमसपत्तं ।
तट्ठंचरं निसिन्नो वा सयानो वा यावतस्स विगतमद्धो ।
एतं सतिं अदिट्ठेयं बह्ममेतं बिहारमिधमाहु ॥"

'माता जैसे प्राण देकर अपने पुत्रकी रक्षा करती है वैसे ही समस्त प्राणीके प्रति दया उत्पन्न करो । ऊपर, नीचे, चारों ओर समस्त जगत्के प्रति बाधाशून्य हिंसाशून्य शत्रुताशून्य मानससे अपरिमाण दयाभाव उत्पन्न करो । खड़े होनेमें, चलनेमें, बैठनेमें, सोनेमें, जब तक निद्रित नहीं होते तब तक, इस मैत्रीभावमें ही अधिष्ठित रहो । इसीको ब्रह्मविहार कहते हैं ।' — यह जो ब्रह्म-विहारकी बात भगवान बुद्धने कही है, यह केवल मुँहसे कहनेकी बात नहीं है, अभ्यस्त नीतिकथा नहीं है ; हम जानते हैं, यह उनके जीवनमेंसे सत्य होकर उद्भूत हुई है । इसपर आज हम गौरव करते हैं । यह विश्वव्यापी चिरजाग्रत करुणा, यह ब्रह्म-विहार, यह समस्त-आवश्यकके अतीत अहेतुक अपरिमेय मैत्री-शक्ति, मनुष्यमें केवल कहने-भरकी मुँहकी बात बनी नहीं रही ; यह किसी-न-किसी स्थानमें सत्य हो उठी थी । इस शक्तिपर अब हम अविश्वास नहीं कर सकते, यह शक्ति मनुष्यके भण्डारमें चिरकालके लिए सञ्चित हो गई । जिस मनुष्यमें ईश्वरकी अपर्याप्त दया-शक्तिका ऐसे सत्य - रूपमें विकाश हुआ है, आज हम अपनेको वही मनुष्य जानकर उत्सव मना रहे हैं ।

इस भारतवर्षमें एक दिन सम्राट अशोकने अपनी राजशक्तिको धर्म विस्तार करनेमें, मङ्गल-साधनमें नियुक्त किया था । राज-शक्तिकी मादकता कितनी सुतीव्र होती है, यह सभी जानते हैं । यह शक्ति क्षुधित अग्निकी तरह गृहसे गृहान्तरमें, ग्रामसे ग्रामान्तरमें, देशसे देशान्तरमें अपनी ज्वालामयी लोलुप रसना बढ़ानेके लिए व्यग्र रहती है । ऐसी विश्व-लुब्ध राजशक्तिको महाराज अशोकने मङ्गलके दासत्वमें नियुक्त किया था ; तृप्तिहीन भोगको विसर्जित करके उन्होंने श्रान्तिहीन सेवाको अपनाया था । राजत्वके लिए इसकी आवश्यकता नहीं थी ; यह युद्ध-सज्जा नहीं, देश-जय नहीं, वाणिज्य-विस्तार नहीं ; यह तो मंगल-शक्तिका अपर्याप्त प्राचुर्य है ; इसने सहसा चक्रवर्ती राजाको आश्रय करके उनके समस्त राज-आडम्बरको क्षण-मात्रमें हीनप्रभ करके सम्पूर्ण मनुष्यत्वको

समुज्ज्वल कर दिया था। कितने बड़े-बड़े राजाओंके बड़े साम्राज्य विध्वस्त विस्मृत और धूलिसात् हो गये हैं, किन्तु अशोकमें मंगल-शक्तिका यह महान आविर्भाव, हमारे लिए गौरवका धन होकर, आज भी हममें शक्तिका संचार कर रहा है। मनुष्यमें जो-भी-कुछ सत्य हो उठा है उसके गौरवसे, उसकी सहायतासे मनुष्य अब कभी किसी दिन वञ्चित नहीं होगा। आज मनुष्यमें समस्त-स्वार्थ-जयी इस अद्भुत मंगलशक्तिकी महिमाका स्मरण करके हम आज परिचित-अपरिचित सब मिलकर उत्सव मनानेमें प्रवृत्त हुए हैं। मनुष्यके इन सब महत्त्वोंने आज हमारे दीनतमको हमारे श्रेष्ठतमके साथ एक ही गौरवके बन्धनमें मिला दिया है। आज हम सब मनुष्यके इन-सब अवारित साधारण सम्पद्के समानाधिकार-सूत्रसे परस्पर भाई-भाई बन गये हैं, आज मनुष्यत्वकी मातृशालामें हमारा भ्रातृ-सम्मेलन है।

ईश्वरके शक्ति-विकाशको हमने प्रभातके ज्योतिरुन्मेषमें देखा है, वसन्तकी पुष्प-पर्याप्तिमें देखा है, महासमुद्रके नीलाम्बु-नृत्यमें देखा है। किन्तु, समग्र मानवमें जिस दिन उसका विराट विकाश देखनेको समागत होते हैं उसी दिन हमारा महामहोत्सव है। मनुष्यत्वमें ईश्वरकी महिमा जहाँ शत-शत अभ्रभेदी शैलमालामें जाग्रत विराजित है वहाँ उस उत्तुङ्ग शैलाश्रममें हम मानव-माहात्म्यके ईश्वरकी मानव-संघमें बैठकर पूजा करते हैं। हमारे भारतवर्षमें सभी उत्सव इस महान भावपर प्रतिष्ठित हैं। किन्तु दैनन्दिन जीवनमें हम इस बातको बिलकुल ही भूल बैठे हैं। हमने जीवनकी जिन घटनाओंको उत्सवकी घटना बना लिया है उनमेंसे प्रत्येकमें ही हम विश्व-मानवको गौरव अर्पण करनेकी चेष्टा करते हैं। जन्मोत्सवसे लेकर श्राद्धानुष्ठान तक किसीको भी हमने व्यक्तिगत घटनाकी क्षुद्रतामें बन्द करके नहीं रखा। इन सब उत्सवोंमें हम संकीर्णताको विसर्जित कर देते हैं; उस दिन हमारे घरका द्वार बिलकुल खुल जाता है, केवल आत्मीय-स्वजनोंके लिए ही नहीं, केवल बन्धु-बान्धवोंके लिए ही नहीं, रवाहूत-अनाहूतके लिए भी। पुत्र जो जन्म लेता है वह हमारे घरमें नहीं किन्तु समस्त मनुष्यके घर जन्म लेता है, समस्त मनुष्यके गौरवका वह अधिकारी होकर जन्म ग्रहण करता है। उसके जन्म-मंगलके आनन्दमें

हम समस्त मनुष्यको आह्वान न करें, यह कैसे हो सकता है! वह यदि किसी एकके घर जन्म लेता, तो उसके समान दीन-हीन जगत्में और कौन होता? सम्पूर्ण मानवने ही जो उसके लिए वस्त्र, आवास, भाषा, ज्ञान और धर्म प्रस्तुत कर रखा है। मानवके अन्तर्निहित नित्यचेतन मंगलशक्तिकी गोदमें जन्म लेकर वह जो उसी क्षण धन्य हुआ है। उसके जन्मोत्सवमें एक दिन घरके सब द्वार खोलकर यदि हम समस्त मनुष्यको स्मरण न करें, तो फिर कब करेंगे! अन्य समाजने जिसे घरकी घटना माना है, भारत-समाजने उसे जगत्की घटना कर दिया है; और यह जगत्की घटना ही जगदीश्वरके पूर्ण मंगल-आविर्भावको प्रत्यक्ष करनेका यथार्थ अवकाश है। विवाह-व्यापारको भी भारतवर्ष केवलमात्र पति-पत्नीके आनन्द-मिलनकी घटना नहीं समझता। प्रत्येक मंगल-विवाहको उसने मानव-समाजका एक-एक स्तम्भ जानकर उसे समस्त मानवका व्यापार कर दिया है। इस तरह घरकी प्रत्येक विशेष घटनामें हम एक-एक दिन घरको भूलकर समस्त मानवके साथ मिलित होते हैं; और वह दिन समस्त मानवमें ईश्वरके साथ हमारा मिलनका दिन होता है।

किन्तु, हा, अब हम अपने उत्सवको दिनपर दिन संकीर्ण करते चले जा रहे हैं। अब तक जो विनय-रसाप्लुत मंगलका व्यापार था, वह अब ऐश्वर्य-मदोद्धत आडम्बरमें परिणत होता जा रहा है। अब हमारा हृदय संकुचित और हमारे घरके द्वार बन्द होते जा रहे हैं। आज हम मानव-साधारणको दूर रखके, अपनेको विच्छिन्न और क्षुद्र करके, ईश्वरके बाधाहीन पवित्र प्रकाशसे वंचित करके कल्पना करते हैं कि हम 'बड़े' हो गये! अब हम केवल अपनेको और अपने स्वर्ण-रौप्यके चाकचिक्यको देख रहे हैं, अपने नामको सुन रहे हैं और सुना रहे हैं।

हे ईश्वर, आज तुम हमारा आह्वान करो। महान मनुष्यत्वमें आह्वान करो। आजका यह उत्सवका दिन केवल भावरस-सम्भोगका दिन नहीं है, केवल माधुर्यमें निमग्न होनेका दिन नहीं है। आजका दिन तो इस बृहत् सम्मिलनमें शक्ति-उपलब्धिका दिन है, शक्ति-संग्रहका दिन है। आज तुम हमें विच्छिन्न जीवनकी प्रात्यहिक जड़तासे, प्रात्यहिक उदासीनतासे, प्रतिदिनकी

निर्वीर्य निश्चेष्टतासे, आराम-आवेगसे उद्धार करो, उद्बुद्ध करो। जिस कठोरता में, जिस उद्यममें और जिस आत्म-विसर्जनमें हमारी सार्थकता है, आज हमें तुम उसीमें प्रतिष्ठित करो। आज हम इतने मनुष्य एकत्र हुए हैं,—आज यदि हम युग-युगसे चले-आये तुम्हारे मनष्य-समाजमें उद्भासित सत्यके गौरवको, प्रेमके गौरवको, मंगलके गौरवको, कठिनवीर्य निर्भीक महत्त्वके गौरवको न देख सकें, और देखें केवल क्षुद्र दीपके आलोकको, तुच्छ धनके आडम्बरको, तब तो हमारा किया-कराया सब व्यर्थ हो जायगा। आज यदि हम, महाकालके मंगल-शंख-निर्घोषके समान युग-युगमें महापुरुषोंके कण्ठसे उद्घोषित अभय-वाणी और अमृत-वाणीको न सुन सकें, सुनते रहें केवल लौकिकता और साम्प्रदायिकताका वाग्विन्यास, तब तो हमारा किया-कराया सब व्यर्थ हो जायगा। तुम हमें इन सब धनाडम्बरोंकी निविड़ कुज्झटिकाओंको हटाकर एक बार उन पवित्र दृश्योंके बीच ले जाओ, जहाँ धूलि-शय्यापर तुम्हारे साधक नग्नदेह बैठे हैं, जहाँ तुम्हारे सर्वस्व-त्यागी सेवक कर्तव्यके कठिन पथपर रिक्तहस्त धावमान हैं, जहाँ तुम्हारे वरपुत्र दारिद्रताके द्वारा निष्पिष्ट, विषयियोंके द्वारा परित्यक्त और मदान्धोंके द्वारा अवमानित हैं। हा, देव, वहाँ कहाँ है दीपच्छटा! कहाँ है वाद्योद्यम, कहाँ है स्वर्ण-भण्डार, कहाँ है मणिमाला! किन्तु, वहीं जो तेज है, वहीं जो शक्ति है, वहीं जो दिव्यैश्वर्य है, और वहीं जो तुम हो! दूर करो, दूर करो इन सब आवरण-आच्छादनोंको, इन क्षुद्र दम्भोंको, इन सब मिथ्या कोलाहलोंको, इन सब अपवित्र आयोजनोंको, दूर कर दो। आज हमें तुम मनुष्यत्वके उस अभ्रभेदी-चूड़ा-विशिष्ट निराभरण निस्तब्ध राज-निकेतनके द्वारके सम्मुख खड़ा कर दो। वहाँ, उस कठिन क्षेत्रमें, उस रिक्त निर्जनतामें, उस बहुयुगके अनिमेष दृष्टिपातके सम्मुख हम तुम ही से दीक्षा लेंगे, प्रभु!

बंगला - रचना : वि०सं०१९६१

हिन्दी-अनुवाद : वैशाख २०११

नौवाँ-दसवाँ भाग :—"उलझन" ('नौकाडूबी' : उपन्यास)

ग्यारहवाँ भाग :—'नन्दिनी' (यन्त्र-युगमें मनुष्य-चित्र) और 'डाकघर' (दो नाटक) ; 'कच और देवयानी' (नाट्यकाव्य) और 'अभिलाष' (काव्य)

बारहवाँ भाग :—"आखिरी कविता" ('विदाका गीत' : उपन्यास)

तेरहवाँ भाग :—"बाँसुरी" (नाटक), 'कर्ण-कुन्ती-संवाद' (नाट्यकाव्य) और साहित्य-धर्म, मुक्तिकी दीक्षा, पुस्तकालयोंका कर्तव्य (तीन निबन्ध)

चौदहवाँ भाग :—"विसर्जन" (मानव-मनपर गभीर प्रभाव डालनेवाला अभिनय-योग्य पञ्चाङ्की नाटक) ; और 'नष्टनीड़' उपन्यास।

पन्द्रहवाँ भाग :—'मालिनी' (नाटिका) ; स्त्रीकी चिट्ठी, चोरीका धन, दादा, बैरागिन, मुकुट (कहानियाँ) ; सहधर्मिणीके वियोगमें 'स्मरण' (कविताएँ)

सोलहवाँ भाग :—मेघ और धूप, आखिरी रात, अतिथि, पड़ोसिन, राज-तिलक आदि बारह कहानियाँ ; 'शिक्षाका स्वाङ्गीकरण' (भारतकी शिक्षा और सभ्यताका समाधान : निबन्ध) ; और 'गान्धारीका आवेदन' (काव्य)

सत्रहवाँ भाग :—"तपती" (नाटक) ; और दो प्रहसन।

अठारहवाँ भाग :—"जीवन-स्मृति" (कविका आत्म-दर्शन)

उन्नीसवाँ भाग :—"तीन साथी" (तीन छोटे उपन्यास)

बीसवाँ भाग :- 'रोगशय्यापर, 'शेष जीवनकी वाणी', 'आरोग्य' और 'जीवनके जन्म-दिन' (कविके शेष जीवनकी अन्तिम दिन तककी कविताएँ)

इक्कीस-बाईसवाँ भाग :—"आँखकी किरकिरी" (उपन्यास)

तेईसवाँ भाग :—'चित्राङ्गदा' और 'लक्ष्मीकी परीक्षा' (नाट्यकाव्य)

चौबीसवाँ भाग :—साहित्य-सम्बन्धी चुने-हुए दस निबन्ध।

पचीसवाँ भाग :—'धर्म' : धर्मका सरल आदर्श, मनुष्यत्व, दुःख, प्रार्थना, धर्म-प्रचार, दिन और रात, उत्सव, स्वतन्त्रताका परिणाम आदि चौदह निबन्ध।

प्रत्येक सजिल्द भागका मूल्य सवा-दो रुपया

२५ भागोंके पूरे सेटका मूल्य ५६।) है

रवीन्द्र-साहित्य-मन्दिर

पी-१५, कलाकार स्ट्रीट, बड़ाबाजार, कलकत्ता-७